2015—16

"Safeguarding the intangible cultural Hertage and Diverse Cultural Traditions of India"

Submitted to :
Sangeet Natak Akademy ,Ravindra Bhawan Feroz Shah Road ,
New Delhi

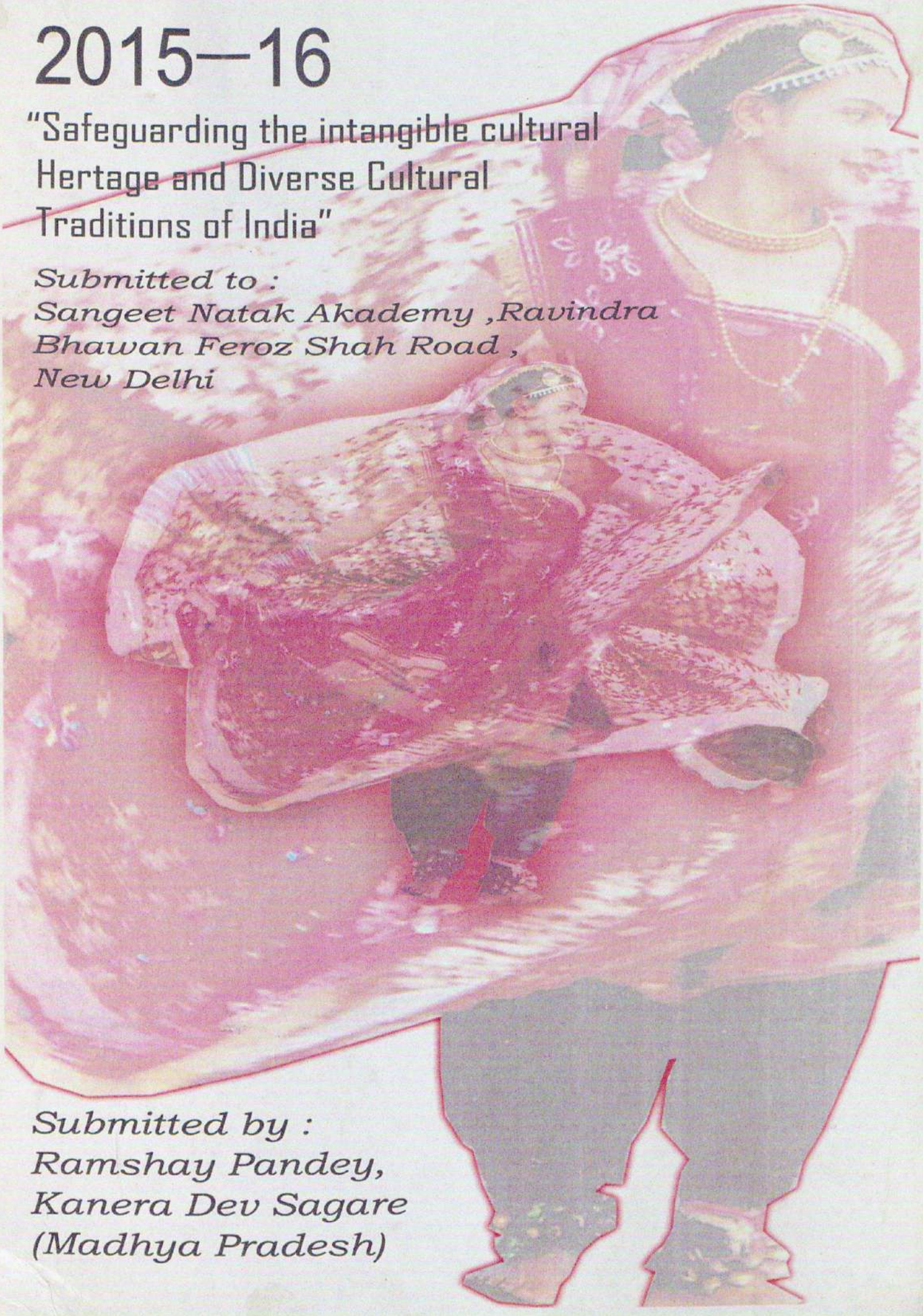

Submitted by :
Ramshay Pandey,
Kanera Dev Sagare
(Madhya Pradesh)

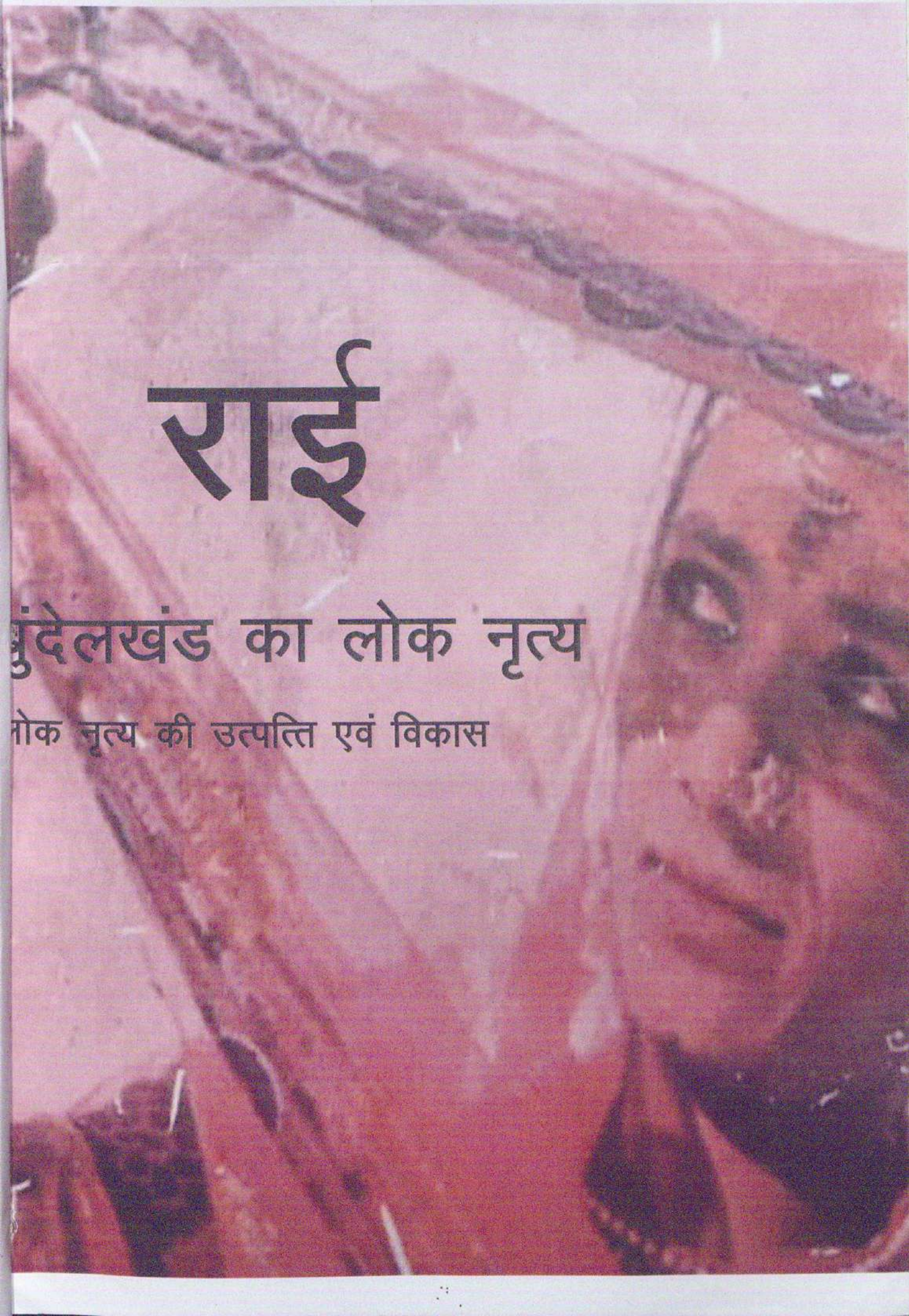

राई

बुंदेलखंड का लोक नृत्य

लोक नृत्य की उत्पत्ति एवं विकास

भारत की अमूल सांस्कृतिक विरासत के अंतर्गत लोक नृत्य राई के ऊपर

अनुसंधान कार्यक्रम

आवेदन

मेरे द्वारा लोक नृत्य राई के ऊपर कार्य किया गया जिसके अंतर्गत मेरे द्वारा लोक नृत्य राई की परंपराओं की खोज के ऊपर प्रकाश डाला गया उसके उपरांत में लोक नृत्य राई की उत्पत्ति एवं विकास पर कार्य किया गया। इस के अंतर्गत लोक नृत्य राई की गायिकी के ऊपर कार्य किया गया। लोक नृत्य राई के अभिनय एवं भेषभूशा व श्रृंगार के ऊपर कार्य किया गया है। जिसकी अंतिम रिर्पोट प्रस्तुत करने जा रहा हूं।

बुंदेलखण्ड का लोक नृत्य राई की तह तक जाना एक बहुत बड़ा कार्य था, इसको पूर्ण करना संभव नहीं है क्योंकि लोक नृत्य राई के ऊपर मेरे ख्याल से अभी तक पूर्ण रूप से कार्य हुआ ही नहीं है। मेरे द्वारा जितना भी संभव हो सका उसे मैनें अधिक से अधिक कार्य करने का पूर्ण प्रयास किया है क्योंकि इसके ऊपर कार्य करना बहुत कम समय में संभव नहीं है अगर इस लोक कला की एक एक बिंदू के ऊपर कार्य किया जाता है तो कम से कम चार वर्षों का समय शोधकर्ता को मिलता है तो मेरे ख्याल से शोधकर्ता लोक नृत्य राई की तह तक पहुंच सकता है। मेरे द्वारा इस कार्यकाल में जो भी संभव हो सका है उसकी रिपोर्ट आपके समक्ष प्रस्तुत है।

Project Report

"Safeguarding the Intangible Cultural Heritage and Diverse Cultural Traditions of India"

Submitted to:

Sangeet Natak Akademy, Ravindra Bhawan,
Feroz Shah Road, New Delhi

Submitted by: Ramsahay Pandey, Kanera Dev, Sagar

"राई"

बुंदेलखंड का लोक नृत्य

Project Report

"Safeguarding the Intangible Cultural Heritage and Diverse Cultural Traditions of India"

Submitted to:

Sangeet Natak Akademy, Ravindra Bhawan, Feroz Shah Road, New Delhi

इतिहास

भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत एवं परम्पराओं के संरक्षण की योजना के अनुदान के अंतर्गत अनुसंधान के ऊपर श्रेष्ठ विद्वानों के मार्गदर्शन में मैंने लोक नृत्य राई के ऊपर कार्य प्रारंभ किया, इसमें सर्व प्रथम सभी श्रेष्ठ विद्वानों के विचार लिए गए

भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत एवं परम्पराओं के संरक्षण की योजना के अंतर्गत मैंने अपने विषय बुंदेलखंड अंचल के प्राचीन लोक नृत्य राई के ऊपर अपनी द्वितीय कार्य योजना ।

शास्त्रीय नृत्य परम्परा के समानंतर एक और नृत्य परम्परा भी हमेशा रही है जिसे लोकनृत्य कहा जाता हैं लोकनृत्य में अनेक शैलियां है हर प्रदेश और जाति के अलग अलग नृत्य हे। लोक नृत्य में कोई संस्कार तथा शिक्षण पद्धति नहीं है किन्तु परम्पराओं के प्रति आग्रह जरूर है। कुछ विद्वानों का मत है कि लोक नृत्यों से ही शास्त्रीय नृत्यों का विकास हुआ है।

शास्त्रीय नृत्य के अतिरिक्त भारत के हर प्रदेश में वहां के लोकनृत्य प्रचलित है। यह जरूर है कि कहीं लोकनृत्य प्रचलित है और कहीं लोकनृत्य अपने सौन्दर्य और माधुर्य के कारण नागरिक समाज में अधिक लोकप्रिय हुआ है और कहीं इसका अभाव होने के कारण लोगों की रूचि उसमें नही हैं।

लोक नृत्यों की एक विषेशता यह है कि उनमें स्वाभाविकता अधिक होती है। कृत्रिमता लेश मात्र भी नही । मनुश्य के हृदय में उपजते भावों को सरलता से व्यक्त करना ही उनकी विशिश्टता हे लोक कलाओं में भारत के लोक नृत्य जनजीवन के सामाजिक और सामूहिक सौन्दर्य के प्रतीक है। विविधता के बीच में भी एकता है जो हमें दार्शनिक जीवन से सम्बद्ध रखने में, उसको जनजीवन में उतारने में बडी सहायक होती है।

सदियों गुलामी के कारण हमारे लोक नृत्य समाज में अपनी पुरानी प्रतिश्ठा खो चुके थे किन्तु भारत की स्वतंत्रता के बाद उन्हें नई प्रतिश्ठा मिली हे। यही कारण है कि अब किसी भी नागरिक सांस्कृतिक कार्यक्रम में शास्त्रीय संगीत के साथ ही हमें लोकगीत लोकनृत्य देखने सुनने को मिलने लगे है। यह समझना भ्रांति है कि लोकनृत्य अथवा लोक कला असंस्कृत लोगों के मनोरंजन की कला है।

नृत्य आंनद का प्रतीक है जब मानव उल्लास से पुलकित हो उठता है तब वह थिरकने लगता है और जीवन की कल्पित परिधि को भूलकर सुख के अपार सागर में

तरिंगित हो उठता है आनंद पहले गीतों में प्रस्फुटित होता है और फिर पदगाति, अंग संचालन में साकार बन जाता है नृत्य के प्रति सबकी अभिरूचि है चाराचर इस आलौकिक कला की ओर चिरकाल में आकर्शित हो रहा है। यह लोक नृत्य उत्सवों विविध आयोजनों में निरन्तर चलते रहते हैं। बुन्देलखण्ड के लोक मानस को सपांदित करने वालो बहुचर्चित लोक नृत्य राई बुन्देली लोक जीवन के आकर्शण का केन्द्र हैं विवाह शादियों उत्सवों के अवसर पर राई नृत्य का आयोजन शोभा और प्रतिश्ठा प्रदान करता है। कई लोग पुत्र कामना की मनौती मनाते हुये राई कराने का संकल्प लेते है। और मनोकामना पूरी होने पर धूमधाम के साथ राई करते हैं।

इस तरह बुन्देलखण्ड के धार्मिक सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में राई नृत्य सदियों से लोकानुरंजन और लोक मंगल की विशय वस्तु बना हुआ है। जब कृशक का हॅसता हुआ श्रम, मुस्काराता हुआ पौरूश और खिलखिलाती वनश्री अपने ही सौन्दर्यबौझ से लजाने लगती है। कृशक खेतों की मेडों पर खडा होकर अपनी गदराई फसलों को देखकर मस्ती से झूमने लगता है तब बुन्देलखण्ड का हरा भरा ग्रामीण अंचल ऐसे फागुनी मौसम में राई नृत्य के रंग और रस में सराबोर हो उठता है।

लोक नृत्य राई का प्रारंभः

बसंत पंचमी से वैशाख की पूनों तक लगभग तीन माह के दीर्घ काल में बुंदेलखंड के लोकनृत्यों की रानी राई की धूम लोकमानस पर फगुनाहट की तरह छा जाती है। वैसे तो लोकनृत्यों का सिलसिला मौसमी उमंगों, उत्सवों के उल्लासों और त्यौहारों के आयोजनों में वर्षभर चलता रहता है, किन्तु इधर राई अधिक उभरकर सामने आयी है। इसकी वजह यह है कि उसे गॉवों के फूहड़पन से उबरने और अपनी मॉग के बढ़ने का अवसर अनायास उपल्बध हो गया है। और भी कारण हो सकते हैं, जैसे नगरवासियों का मन–बहलाना "राई" को अधिक प्रश्रय देता है। जो भी हो, बहरहाल इस संक्रमण–काल में लोक नृत्य राई की चर्चा इसलिये जरूरी कि उसके उभार को सही दिशा मिल सके और उसे असली रूप में समझा जा सके।

कहने का तात्यपर्य यह है कि राई जन मनोरंजन की ऐसी सतरंगी सरगम है जिससे नृत्य संगीत अभिनय और शौर्य प्रदर्शन की पवन गंगा बहती है।

लोक शब्द एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त किये गए यह मानव समाज की ओर इशारा करता है स्पष्ट है की लोकनृत्य एक सर्वसाधारण की कला है जो लोक में इसलिए प्रवाहमान है क्योंकि पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही परंपरा से जुड़ी चली आती है, इसमें निहित मत विचार श्रद्धा और शिष्टाचार इतने अपरिवर्तनशील है की उनकी अंतः धारा में बार बार दोहराने पर भी कोई परिवर्तन नहीं होता उलटे युग में परिस्थितिगत अपेक्षाओं के अनुसार थोड़ा बदलाव होता है, यह एक प्रकार से परिष्कार ही लाता है, लोक नृत्य में जन समाज की स्थानीय और जातीय विशेषताऐं लक्षित होती है। यहॉ ध्यान देने की बात है की लोक का संगीत भी इससे जुडा होता है जो समाज की ऐसी सहज आवाश्यकता है जिसका सामाजिक उत्सव त्यौहारों रीति रिवाजों संस्कारों और मानसिक कार्यो हेतु प्रयोग होता है यह तथाकथित शिष्ट समाज या वातावरण से बहुत दूर होता है। भले ही इस संगीत से शास्त्रीय संगीत को संवारने में सहायता मिलती है।

लोक नृत्य और लोक संगीत एक दूसरे के अनुपूरक है इनमें से एक आभाव में दूसरे का प्रभावी होना कठिन हो जाता है, अतः यह विश्वास किया जाता है कि लोकनृत्य और लोक संगीत दोनों का उद्भव और विकास लगभग साथ ही साथ हुआ है। ऐसा माना जाता है कि आनंद के उद्वेग में जब शारीरिक अंग संचालनो का आधिक्य होता है तो नृत्य की भंगिमा प्रारंभ हो जाती है। अनेक विद्वानों ने यह माना है कि कला आनंद की ही अभिव्यक्ति है कोई कोई तो पूरी सृष्टि को नृत्यमय मानते है जो समस्त चेतन और अचेतन इसमें भाग लेते है। लय प्रकृति का स्वाभाव है इसे हमारे ऋषियों ने भी बहुत पहले

ही मान लिया था जिसका प्रथम साक्ष्य उन्होंने शिव के ताण्डव नृत्य में बताया है। यह नृत्य ऊर्जा का प्रतीक है इसलिए शिव ऊर्जा के प्रतीक है जैसे मंडलाकार नृत्य आकाश में चलने वाले नक्षत्र की अनुकृति है उसी प्रकार लोक नृत्य राई भी पूर्ण मंडलाकार में होता है। वास्तव में राई एक कलात्मक नृत्य है अनुष्ठानिक भी है परंतु पौराणिक परिवेश जुड़ा होने पर भी एक लम्बे अंतराल के कारण अपने मूल रूप में नही रह पाया। आज राई का मनोरंजनात्मक श्रृंगारिक रूप ही लोक में रह गया है।

लोक नृत्य राई के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत करते हुये उसे एक नृत्य नाट्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है लोक नृत्य राई रातभर होता है, नर्तकी और सौबत को अवकाष देने के लिए राई के मध्य स्वांग का आयोजन किया जाता है यह स्वांग व्यंगात्मक तो होते ही है साथ ही साथ स्थानीयता लिए हुए होते है। नाटक की तुलना में इनमे ना तो कोई मंच होता है। ना तो वेश–भूषा पर विशेष ध्यान दिया जाता है और न ही संवाद और भाषा का बंधन होता है। स्वांग गीत गाये भी जाते है जो राई में प्रारंभिक आलाप तोरा की पंक्ति के बाद दोहे या द्विगपंक्तियों के रूप में गाए जाते है फिर सवैया या राई गीत फागें प्रस्तुत

की जाती है। राई नृत्य जैसे कलात्मक नृत्य को कलात्मक ही रखने की प्रवृत्ति बनायीं जाती है। मनुष्य ने कृषि के साथ साथ आपदाओं और नैसर्गिक अनुभूतियों का माध्यम नृत्य को बनाया है। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में नृत्यों की प्राचीनता का उल्लेख मिलता है इस सब का आधार लोकाभिरूचि है। नृत्य का कोई इतिहास नहीं मिलता वैदिक काल के पहले ही लोक नृत्य जीवन में अभिन्न अंग बन चुके थे वैदिक काल तो भारत के सांस्कृतिक जीवन का आदर्श युग है इसमें गीत वादय और नृत्य के जैसा अस्तित्व पाया जाता है यह संसार की अन्य संस्कृतिक जीवन का आदर्श युग है इसमें गीत वादय और नृत्य के जैसा अस्तित्व पाया जाता है यह संसार की अन्य संस्कृतियों में नही मिलता। हमारें वेदों में वसंतोत्सव आदि का उल्लेख मिलता है जैसा की ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अर्थवेद मे गन्धर्व और अप्सराओं के नृत्य की प्रभूत चर्चा सामाजिक जीवन और सामूहिक नृत्य में विशेषताओं को प्रदर्शित करती है, नृत्य और नर्तक दोनों का उल्लेख मिलता है। इन नृत्यों में छोटे बडे अमीर गरीब का कोई भेदभाव का कारण नहीं मिलता। उत्सवों में स्त्री पुरूष का संयुक्त नृत्य में सब लोग तन्मय होकर नाचते थे। पूर्व कालों में भी हमारे लोक नृत्यों की परंपरा विद्यमान थी। लौकिक परम्पराओं की सुरक्षा पुत्र जन्म विवाहौत्सव अथवा अभिनन्दन समारोहों में लोक नृत्य का चलन था।

राई मूलतः लोक नृत्य है जो बसंतोत्सव से जुड़ा रहा है और आज भी बसंतोत्सव से लेकर वैशाख पूर्णिमा तक राई की धूम रहती है। रबी की फसल और फाग का प्रमुख नृत्य होने के कारण उसकी प्राचीनता में कोई संदेह नही है। चंदेल नरेश मदनबर्मन 29–65 ई के समय मनाये जाने वाले वसंतोत्सव का वर्णन जिन मंण्डन के कुमारपाल प्रबंध में मिलता है। रूपकार वसंतराज ने भी चंदेल नरेश परमार्दीदेव और त्रैलोक्यवर्मन के

कार्यकाल में वसंतोत्सव का चित्रण किया है। उनके प्रहसन हास्यचूड़ामणि का अभिनय तो बसंत ऋतु में हुआ था। स्पष्ट है की यह लोकनृत्य 12 वीं सदी के पूर्व से लेकर 12वीं सदी तक प्रचलित था जो अभी तक प्रचलन में है। लोकनृत्य राई आदिकाल से चंदेलकाल में भी केवल यही लोकनृत्य ही रहा है परंतु जैसे ही वीरवर्मन 1245–82 ई की मृत्यु हुई चंदेल राज्य के टुकडे–टुकडे हो गए और छोटी–छोटी जागीरों में यह नृत्य मनोरंजन का प्रमुख साधन बन गया। बुंदेलखंड में यह स्थिति लगभग 200 वर्ष तक रही। स्वाभाविक है की सामन्ती और जागीरदारों के मनोविनोद में विशुद्ध कलात्मकता की उतनी जरूरत नही थी जितनी मसखरी और संवाद की इस कारण राई लोक नृत्य में लोक नर्तिकाओं की संख्या बड़ी और विदूषक एक दो पुरूष जैसे पात्र भी इसमें सम्मलित होते रहे। राई में अभिनय शामिल हो गया और लोकनृत्य और लोकनाट्य दोनों रूपों में प्रचलित हुआ। इस प्रकार 15 वीं सदी से लगातार लोक नृत्य के साथ साथ लोक नाट्य भी निरंतर गतिशील रहा है। ना तो इस प्रदेश में कोई साम्राज्य स्थापित हुआ और ना राई का तार टूटा। राई नृत्य में नर्तकी का घूंघट डालना और हाथ में रूमाल लेकर संकेतात्मक अभिनय करना मध्ययुग की ही देन है।

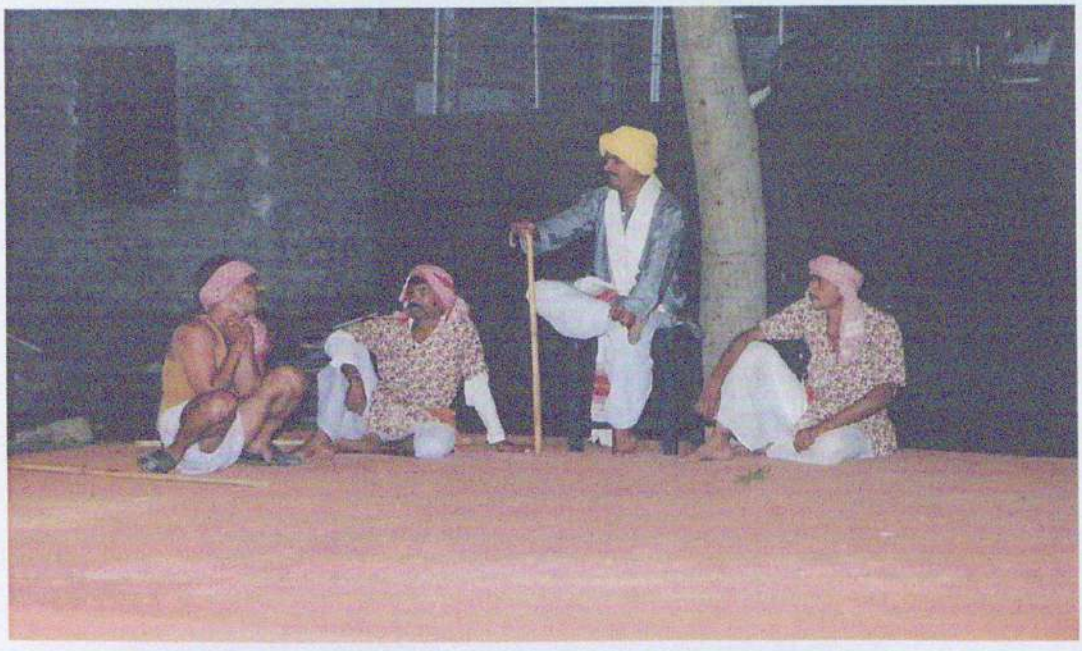

इसी प्रकार राजस्थान के लोकनाट्य गवरी गौरी की नर्तकीयों को राई कहा जाता है यहॉ तक की गवरी का नाम राई भी प्रचलित है। इससे प्रकट है की गवरी भी पहले लोक नृत्य रहा है और कालांतर में लोक नाट्य के रूप में विकसित हुआ। राई लोकनाट्य की अभिनेत्री और नर्तकी बेडनी बेडिया जाती का उद्‌बोधन करता है। यह लोक नृत्य जहॉ जनता में प्रिय है वहां राजा के सामन्तों जागीरदारों ठाकुरों आदि मध्य युग के उच्च वर्गो में प्रचलन में रहा है। उसका सर्वाधिक उत्कर्ष 19वीं शती में रहा है उच्च वर्ग के विनोद और विलासिता का साधन बनने से ही वह व्यावसायिक हुआ है और इसीलिए उसका मंचन चाहे जनता के बीच होना ही चाहे जमींदार की हवेली में बेडनी को पहले साई बयाना दिया जाता है।

मध्ययुग में राई का मंच या तो बिल्कुल सादा खुला हुआ होता था या फिर हवेली के भीतर सजा संवरा। सादे मंच के किसी भी बड़े मैदान के बीच स्वच्छ टुकड़े को रस्सी से घेर दिया जाता था और उस घेरे के भीतर एक तरफ गायक और वादक दल खडे रहते

है जिनके पीछे नगड़िया सेंकने के लिए अलाव या कंडे में आग सुलगती रहती है। तो बांकी तीन तरफ लोक नृत्य के लिए खाली रहता है। रौशनी के लिए पलीते जलाये जाते है राई नृत्य में मृदंग वादक व बेडनी के बीच एक मुकाबला चलता रहता है जो पूरी रात देखने को मिलता है उसी के लिए दर्शक पूरी रात यह सोचता रहता है की नर्तकी का नृत्य श्रेष्ठ है या मृदंग वादक का वादन दोनों की होड़ के साथ–साथ यह नृत्य भोर होते ही समापन की ओर चला जाता है।

मृदंग का उल्लेख भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में भी आता है मृदंग लोक वाद्यों में सर्वाधिक प्राचीन लोक वाद्य है लोक संगीत में आज भी मृदंग अपने वैभव एवं प्राचीन पहचान के साथ विद्यमान है। बुंदेलखंड मध्यप्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में मृदंग का प्रयोग लोक नृत्य में किया जाता है। बुंदेलखंड के राई नर्तक मृदंगवादन में अपनी सानी रखते है। प्रारंभिक काल में मृदंग का निर्माण मृदा अर्थात मिट्टी से होता था किंतु कालांतर में मृदंग का स्वरूप एक नए रूप में विकसित हुआ और उसका खोल मिट्टी के स्थान पर लकड़ी का खोल बनाया जाने लगा। आज पूरे बुंदेलखंड मध्य प्रदेश में चहुँओर मृदंग का खोल लकड़ी से बना ही पाया जाता है यह खोल आम बीजा या शीशम की लकड़ी से बनाया जाता है। मृदंग वादकों एवं विशेषज्ञों से ये ज्ञात हुआ है की इन्हीं तीनों वृक्षों की लकड़ी ही मृदंग के खोल के लिए सर्वोत्तम टिकाऊ एवं गुणकारी मानी गयी है। मृदंग के निर्माण की ढोलक के समान ही है अंतर केवल इतना है ढोलक में धातु के छल्ले सरद में लगाये जाते है जबकि मृदंग की सरद में लकड़ी के आयताकार छोटे ठिम्मे गुटके लगाये जाते है यह

गुटके गद सिरे की ओर होते है। तथा मृदंग के आवश्यक सुर–ताल निश्चित करने के लिए इन ठिम्मों को वादकगण तत्कालिक उपलब्ध किसी ठोस वस्तु से ठीक लेते है। मृदंग में भी ताली औरगद होते है किन्तु मृदंग के गद से स्वर निकालने की विशेषता यह है कि इसके गद से आटा का लौंदा चिपकाया जाता है जिससे गंभीर आवाज़ निकलती है। ताली मे तबले जैसी स्याही लगायी जाती है मृदंग का आकार ढोलक से भिन्न होता है। यह गद की और मोटा और ताली की ओक क्रमशः पतला होता जाता है। सरदे लगायीं जातीं है। इसे कमर में बांध कर दोनों हाथों की हथेली और उंगलियों से बजाया जाता है। वादक मृदंग में बहुरंगी झालार से मृदंग को सजाता है। सजाने का यह कार्य केवल बुंदेलखंड में अधिक पाया जाता है।

यहॉ पर ढोलक में भी ऐसी सुन्दर झालर लगते है। वास्तव में लोक कलाकारों की ही यह सुन्दर सूझ है। इस नृत्य में मंजीरा झांझ या तारें अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते है इन्हें प्रायः सहवाद्य के रूप में ही उपयोग किया जाता है इनका तीखा स्वर अन्य लोक वाद्यों के मिश्रित स्वरों में भराव का कार्य करता है। गॉवों में रात्रि के सान्नाटे में झांझ मंजीरा बजते है तो इनकी आवाज़ मीलों दूर तक सुनाई पड़ती है। मंजीरा पीतल या कांसे की

धातु से बनाये जाते है। वास्तव में ये दो वाद्य शुद्ध पीतल या कांसा धातु से नहीं बनाये जाते है बल्कि कांसा, पीतल की मात्रा अधिकाधिक रखकर इन धातुओं में जस्ता, तांबा, कस्कुट आदि की न्यून मात्रा भी मिश्रित की जाती है। मिश्रित धातु के कारण ही इनसे मीठा स्वर निकलता है ।

धातुओं के मिश्रण प्रकार वनज वनज एवं आकर अदि की गुणवत्ता पर ही इन वाद्यों की उत्तर ध्वनि निर्भर रहती है इनका निर्माण ताम्रकार जाती के लोग और कसेरा जाती के लोग करते है इनका आकार छोटे–छोटे गोलाकार में होता है किंतु इनका सामान्य

गोलाकार आकार होता है। लोक नृत्य राई में रमतूला तुरई

ढपला चंग टिमकी का विशेष महत्तव होता है।

लोक नृत्य राई में टिमकी नगड़िया को राई नृत्य की मौडी कहा जाता है।

यह कुम्हारों द्वारा मिट्टी का कोंढा धारा बना करा आग में पकाया जाता है उसकों पूर्ण पकने के बाद बसोर जाति धानक जाति के द्वारा उस पर भैंस या पड़े का चमड़ा पका कर चढ़ाया जाता है। और उसे चमड़े के छोटे–छोटे तनों सरदों को पूरे घारे पर मकड़ी के जाल के समान बुना जाता है इसके चमड़े बुनाई औरा घारे पर इसके स्वर का निर्धारण होता है इनका आकर गोलाकर होता है जिसका व्यास लगभग 12–14 इंच होता है जो खेर या शीशम की लकड़ी के पतले डंडो से बजायी जाती है डंडो की लम्बाई 12–14 इंच तक की होती है। इनकी मोटाई अंगूठे के बराबर होती है। इसके साथ साथ राई लोकनृत्य में अलगोजा का वादन भी होता है बुंदेलखंड मध्यप्रदेश में विभिन्न क्षेत्रों व अंचलों वॉसुरी के अपने अलग अलग नाम होते जिनमें कुछ विविधता और विशेषताएं भी है जैसे मंडला सिवनी में जोड़ा बॉसुरी अहिरी बॉसुरी मुरली जबलपुर में बंसी बॉसुरी बस्तर में माडिया बॉसुरी बेतूल होशंगाबाद भूगडू पवी या पवई धार–झाबुआ में पावला, पावली, रोहली, सुकटा–सुकटी बहली बघेलखंड में बॉसुरी बंसी मालवा निमाड़ में बंसी बंसरी बुंदेलखंड में बंसी बरेदी बॉसुरी अलगोला नाम से जाना जाता है। दो समान खड़ी बॉसुरियों को वादन की परंपरा पायी जाती है। बॉसुरी के समान इस लोकवाद्य से भी गीत के बोल निकले जाते है। चूँकि दो बॉसुरियों एक साथ बजती है अतः बॉसुरी से भिन्नता लिए हुए सुरीले सुर अलगोजा से निकलते है। अधिकतर देखा जाता है कि अलगोजा वादक बाजार में बिकने वाली दो समान बॉसुरियों को खरीदते है तथा उन्हें अलगोजा का स्वरूप स्वयं प्रदान करते है। अपनी रूचि के अनुसार अलगोजों को सुन्दरता पूर्वक फुंदरा आदि से सजाते है। नीचे के हिस्से को एक दूसरे से ढीलदार रस्सी फुंदना या झालर से बांध देते है। इसका वादन एकल एवं सामूहिक गीतों में किया जाता है।

उत्तपत्ति

राई नृत्य की नर्तकी बेडनी समाज की स़ी होती है इस समाज की उत्पत्ति के पर्व हमें वेश्याओं के क्रमिक विकास पर ध्यान देना आवश्यक होगा। हमें अपने वेद पुराण रामायण, महाभारत के अध्ययन करने पर वेश्याओं की उत्पत्ति का आभास होता है महाभारत कालीन वेश्याओं का वर्गीकरण कुछ इस तरह से था।

- राजवेश्या
- नगर वेश्या
- गुप्त वेश्या
- देव वेश्या एवं
- ब्राम्ह वेश्या

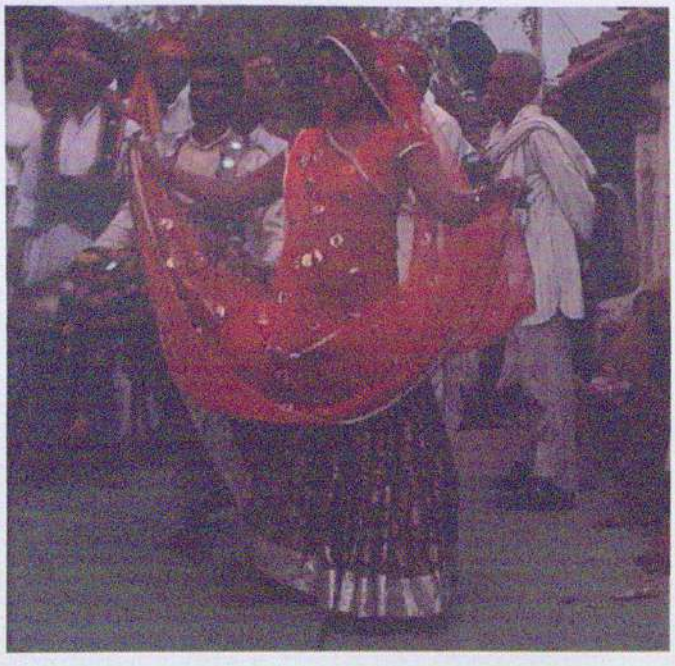

पुराणों में अप्सराओं यथा मेनका रंभा उर्वशी आदि के नृत्यों एवं कृत्यों पर विस्तार से वर्णन हुआ है। इन अप्सरोओं का काम नृत्य कर मनोरंजन प्रदान ही नहीं अपितु ये अपने रूपजाल में फसाकर किसी को भी पथभ्रष्ट करने का काम

भी किया करती थी। वेश्याओं का प्रयोग शत्रुओं को परास्त करने हेतु होता था, जिसमें विष कन्याओं का पर्याप्त वर्णन किया गया है। चाणक्य ने वेश्याओं को क्षति पहुँचाने पर दंड देने तथा वेश्याओं की दरें निर्धारित करने संबंधी नियम बनाये थै। वेश्याओं को साधारण बोलचाल में कंजरी, गणिका आदि नामें से भले ही संबेधित किया जा रहा है अथवा उन्हे नीची नजरों से देखा जा रहा हो किन्तु प्राचीनकाल में उन्हें नगरबधुओं और जनपद कल्याणी होने का गौरव प्राप्त था। उनके प्रसादों में अमीर उमराव ही नही सम्राट तक पधारते थे तथा दरबार में उनका सम्मान भी होता था।

आम्रपाली, चित्रलेखा, मदनमाला, पिंगला, वासवदत्ता, गुणवती, सहगाअ ैर रूपाण्किा आदि कुछ इतिहास प्रसिद्ध वेश्यायें हुई है जिनके कारण कभी भीषण युद्ध हुए तो कभी तलवारें म्यान में ही समा गई। वेश्याओं के जीवन पर अश्वघोष कालीदास, मानहर्ष तथा भवभ्पूति ने ही नहीं वरन रविन्द्रनाथ टैगोर, मुशी प्रेमचद्र, आचार्य चतुरसेन, भगवती वर्मा,अमृतलाल नागर, यशपाल सहादत हसन हस्मत ने वंशज बेडियो या कोल्हासी कहलाए। ये परम्परागत रूप से घुमक्कड और लुटेरे थें ये चटाई की झोपडियों में अथवा तंबुओं में रहते थे। ये हिन्दु अथवा मुसलमान कुछ भी हो सकते थे। ये जिनके बीच में रहते उन्ही के धर्म को अपना लेते थे। इसलिए कुछ बेडिया द्विधर्मा कुछ कबीरपंथी या सिख हुए तो कुछ पंचपीर समुदाय के।

साक्षात्कार में ही कुछ बेडनियों ने अपने समाज की उतपत्ति के विषय में बताया कि हम गंधर्व जाति के है और हमारी उत्पत्ति स्वर्गिक अप्सरा रंभा से हुई थी हम रंभा की ही संतान है वर्तमान में यह समाज मध्य प्रदेश के सोलह जिलों में तथा देश के कई राज्य में अलग

अलग नामों से स्थापित है।

सिरढका – एक साक्षात्कार मे ज्ञानसिंह बुंदेला जी कहते है कि एक बेडिया परिवार सर्वप्रथम राजस्थान तरफ से आया था। उसमें पति पत्नि एक दो लडकी थी। इस परिवार की स्त्रियां बोनी के समय खेतों खेतों जाकर नृत्य करती थीं इनके नृत्य से खुश होकर किसान इन्हें अनाज देते । इसी प्रकार कटनी के समय भी खेतों पर जाकर अनाज एकत्रित करती थी। धीरे धीरे इनके द्वारा किया जाने वाला नृत्य

लोगों को पंसद आने लगा और इनकी ख्याति फैलने लगी। इनका परिवार भैंसा के ही एक मालगुजार ने मुगरयाउ नामक स्थान पर बसा दिया। बेडिया परिवार के पुरूष शुरू से ही अर्कमक रहे है। पूर्व में तो गांव के मुखिया ही इन्हें बुलाते थे अब सामान्य लोग भी खुशी के मौकोंपर इनके नृत्य करवाने लगे। पहले नर्तकी के साथ कोई सौबत नहीं होती थी धीरे धीरे गांव की सौबत इनेसे जुडने लगी और नृत्य का वह रूप अब राई नृत्य के रूप में ख्यात हुआ। इस प्रकार से इनका समा बढता गया और नृत्य परिष्कृत होता गयां नर्तकी सुन्दर होती थी और इनका नृत्य मनमोहक होता था,. ~~नर्तकी सुन्दर होती थी और इनका नृत्य मनमोहक होता था~~ इसलिए मालगुजारों का ध्यान नर्तकी पर स्थिर होने लगा। इस प्रकार बेडिया समाज में सिरढका नाम की प्रथा का सूत्रपात हुआ।

राई :– पृष्ठभूमि

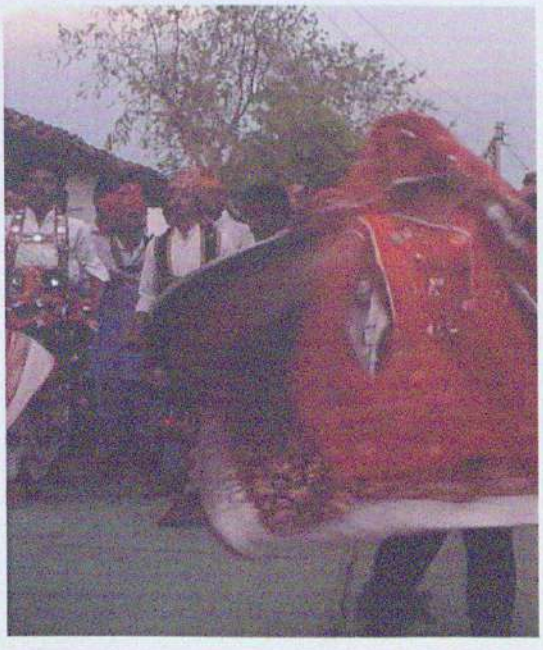

राई ऐसा आनुष्ठानिक एवं मनोरंजन प्रधान लोकनृतय व लोकनाट्य है, जिसकी अपनी परम्परा है। यह भारत वर्ष के सभी लोकनृत्यों की भांति अपनी उत्पत्ति के लिए शिव ओर शक्ति की कथाओं से जोड़ा जाता है।

राई राजस्थान और मध्यप्रदेश में इसी नाम और कम या अधिक रूप में शिव और शक्ति के नृत्य विलास का ही प्रदर्शन है। राजस्थान में भील, कंजर, मीणा और बंजारा, बेड़िया आदि जातियों की देवी शक्ति ही है। नाम बदल जाते हैं पर सबका मूल मोटिव एक है। बेड़िया मध्यप्रदेश में पश्चिमी और दक्षिणी राजस्थान से आकर बस गये। मूलरूप में यह उनका ही आनुष्ठानिक नृत्य है, बाद में मनोरंजन प्रधान हो गया। इस कारण से इसकी जड़ें राजस्थान में आधिक हैं। अतः सर्वप्रथम राजस्थान की राई का अवलोकन आवश्यक है।

राजस्थान की राई :–

मध्यप्रदेश का उत्तरी भाग राजस्थान के नाम से अभिहित होता है। राजस्थान की साहित्यिक परम्परा अत्यंत प्राचीन है। लोक संस्कृति का आधार वहां के लोकनाट्य हैं। डॉ. महेन्द्र भानावत ने इनके अनेक प्रकार माने हैं। उनके अनुसार ये कुल 42 विविध रूपों में मिलते हैं, परन्तु उन्होंने इनका वर्गीकरण ख्याल, स्वांग और लीलाओं में किया है। बुन्देलखण्ड का पश्चिमी हिस्सा राजस्थान की सीमा को छूता है। लोकनृत्यों और नाट्यों का आदान–प्रदान होता रहता है। ख्याल, स्वांग, लीलाओं में बुन्देलखण्ड में स्वांग और राई का आंशिक प्रभाव पड़ता है। स्वांग बुन्देलखण्ड में वैसे नामों से नहीं खेले जाते जैसे राजस्थान में प्रसिद्ध है। यहां गबरीनृतय और स्वांग आशा से अधिक परिवर्तित हो गये हैं, इसलिए इनको अपने मौलिक रूप में ही प्रस्तुत करना होगा, क्योंकि राजस्थान का न तो भाषायी प्रभाव दिखता है और न खेले जाने वाले समूहों या दलों का कोई नाम ये धारण करते हैं। इसी दृष्टि से राजस्थानी परम्परा को बुन्देली परम्परा के साथ मिलाकर देखने से दोनों भू–भागों की संस्कृति का अंतर भली–भांति समझ में आ जाता है।

राजस्थान में गबरी लोकनाट्य के उद्‌भव और विकास की अपनी परम्परा है। यह एक संयोग ही है कि गबरी नृत्य में राई–राइयों का विशेष आधार होता है। यहां बुन्देलखण्ड में गौरा या गबरी ही स्वयं राई होती है। अंतर केवल इतना है कि यहां राई भील नहीं करते, बल्कि बेड़िया जाति की नर्तकियां करती हैं और ये जाति अपने मूल रूप में आपराधिक वृत्तियों की जाति उसी प्रकार मानी जाती थी, जैसे राजस्थान में भील, मीणा, कंजर, किसविन आदि माने जाते हैं। मध्यप्रदेश में भी इन जातियों के लोग आये हैं, वे पश्चिमी मध्यप्रदेश तक ही सीमित रह गये। इसलिए यह कहा जा सकता है कि बुन्देलखण्ड की राई का आधार

बेड़िया जाति तो है, पर यह अधिक से अधिक 400 वर्षों से अधिक पुराना इतिहास नहीं रखती। राजस्थान में भीली संस्कृति की क्षेत्र विशेष में अधिक प्रधानता रही है। गबरी भीलों की प्रमुख देवी मानी जाती है। उन्हीं को प्रसन्न करने के लिए प्रति तीसरे वर्ष गबरी को लोक सामूहिक रूप में संगठित होकर मान्यता का अनुष्ठान लेते हैं। यहां गबरी का प्रारम्भ रक्षाबंधन के बाद आने वाली ठंड राखी से प्रारम्भ होता है और सवा महीने तक चलता है। इसके पीछे एक मोटिव होता है जो जातीय संगठन फसल की सुरक्षा, गांवों की खुशहाली, अकाल और अनेक व्याध्यिों से छुटकारा पाने का होता है। इसमें भीलों की संस्कृति तो प्रदर्शित होती ही है, साथ ही लोक जीवन के विविध रूप भी सामने आते हैं। गबरी के साथ स्वांग का भी प्रदर्शन होता है, जो सामाजिक विरूपताओं और असंगतियों का पर्दाफाश करते हैं। इसी मनोरंजन के तत्व का समावेश होता है।

बुन्देलखण्ड में मान्यता के रूप में अल्पांश में ही राई का आयोजन होता है, क्योंकि यह केवल मनोरंजनार्थ ही की जाती है। मान्यता केवल राजस्थान से भूभाग के क्षेत्र में अल्पांश में दिखती है।

उद्‌भव और विकास :–

उद्‌भव और विकास की दृष्टि से गबरी का मूलाधार शिव तथा भस्मासुर की कथा माना जाता है। कथा बहुत छोटी है, शिवजी को तपस्वी होने के कारण शमशान की भस्मी प्रसाधन के रूप में आवश्यक होती थी, इसलिए उन्होंने एक ऐसा राक्षस पैदा किया जो उनका यह काम नियमित रूप से कर सके।

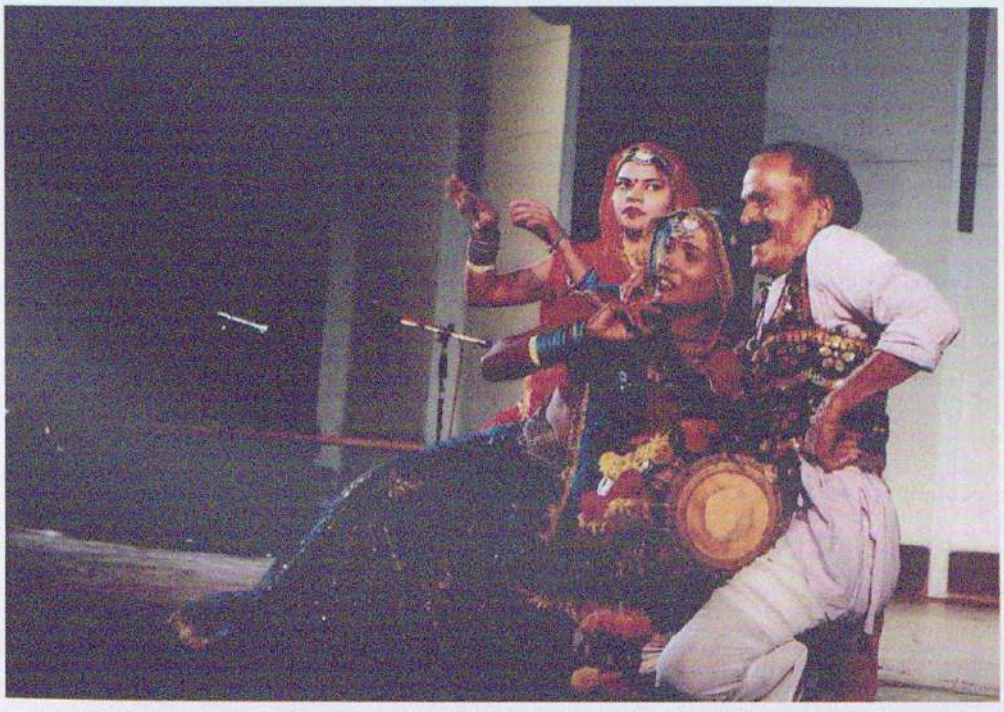

उसे एक वरदान भी दे दिया कि वह जिस पर हाथ रखेगा, वह भस्म हो जायेगा और उस भस्म को शिवजी को भेंट कर देगा। एक दिन भस्मासुर को प्रमाद आ गया। उसने शिवजी की तपस्या की जिसके फलस्वरूप एक कड़ा प्राप्त किया, यह कड़ा भस्मी कड़ा बन गया और इसी से भस्मासुर ने शिवजी को भस्म करना चाहा। अपने को संकट में देखकर शिवजी ने विष्णु से सहायता मांगी। विष्णु ने मोहिनी का रूप धारण करके भस्मासुर को नृत्य करने में ऐसा व्यस्त किया कि उसका कड़ा उसके सिर पर आ गया और वह भस्म हो गया। भस्मासुर चतुर था, मरते–मरते उसने एक वरदान मांगा कि वह किसी प्रकार अमर रहे। उसकी स्मृति के लिए गबरी नृत्य का आयोजन प्रारम्भ हुआ। यह कथा बुन्देलखण्ड में भी विभिन्न पुराणों से आई, परन्तु इसका धार्मिक रूप नहीं चल पाया। पुराणों में भस्मासुर के स्थान पर बकासुर का नाम आता है। कथा का रूप किंचित बदल जाता है। वृकासुर तीनों लोकों में उत्पात मचाते हुए शिवजी को भस्म करके पार्वती का अपहरण करने का मंत्र भी बनता है। यहां विष्णु मोहिनी का रूप धारण करके अपने कटाक्षों से मोहित करते हैं और नृत्य में लगा देते हैं, वृकासुर को भी भस्मासुर जैसा वरदान प्राप्त था और यही वृकासुर भस्मासुर कहलाता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भस्मासुर हो या वृकासुर कथा के मूल में धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मोटिव अंतर्निहित है। लोक में इसे अनेक रूप दे दिये गये। गबरी नाट्य के पीछे राजस्थान की अनेक लोक कथायें भी प्रसिद्ध हैं, जो प्रत्यक्षतः और प्रकारांतर सो शिव–पार्वती के भोले रूप और वरदान तक पहुंच जाती हैं।

लोकनाट्यों और नृत्यों का प्रमुख मोटिव मनोरंजन के साथ–साथ जनजीवन के स्वस्थ रूप में चित्रित करने का होता है। राजस्थान में गबरी लोकनाट्य अधिक है इसलिए इसमें पात्रों की संख्या भी अधिक होती है।

डॉ. भानावत के अनुसार ये पात्र 4 प्रकार के होते हैं – देवपात्र, मानवपात्र, दानवपात्र और पशुपात्र। गबरी के देवपात्र के रूप में शिव–पार्वती प्रमुख हैं। पार्वती का एक रूप कालका का होता है, जिसमें दानवपात्र की कथा सदैव जुड़ी रहती है, शिव और पार्वती लोकनृत्य में पृथ्वी लोक पर आते हैं और आलौकिक शक्ति सम्पन्न होने के कारण संभव को असंभव और असंभव को संभव बना देते हैं। यहीं देवपात्रों का प्रदेय होता है और इन्हीं से सुखांत की कामना की जाती है।

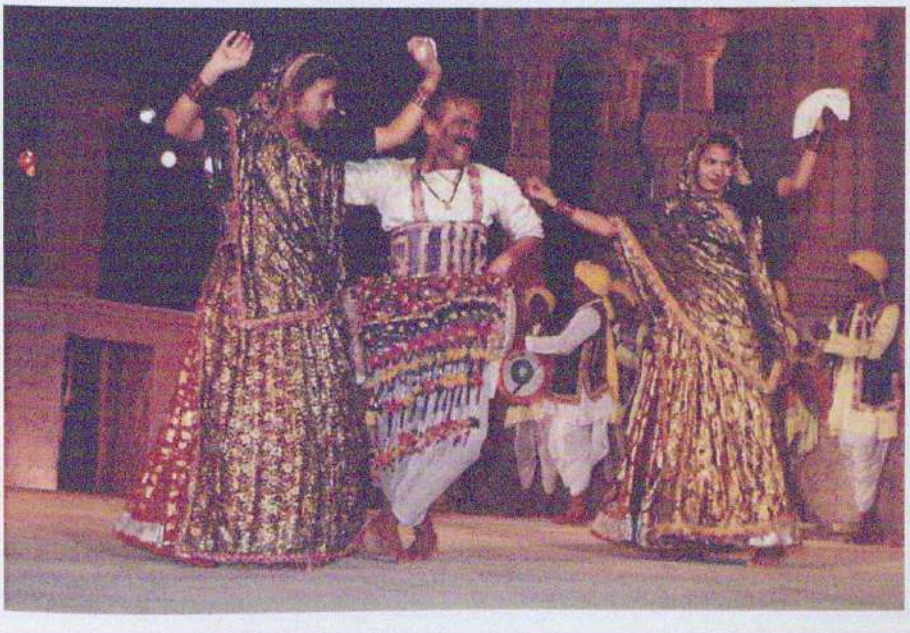

मानव पात्रों में 24 तक पात्र हो जाते हैं, प्रत्येक पात्र का अपना एक गुण होता है। ये पात्र बुढ़िया, राई, कुटकड़िया, कंजर, कंजरी, मीणा, नट, खेतुढ़ी, कालबेलिया, पाइया, बाणियां, जोगी, गरड़ा, कानगुजरी, कालूकीर, बंजारा, शकलीगर, भोपा, वनवारी, गोमा, बांझड़ी, फन्ता–फन्ती, बगली, देवर–भौजाई आदि इन पात्रों से एक विशेष चरित्र और क्रियात्मक गीत मिलता है, जिसके प्रस्तुति से गबरी की प्रभावान्विति बनती है और समाज का चित्रण होता है। जहां तक पशुपात्रों की बात है वे दोनों प्रकार के होते हैं जैसे सुअर, रीछड़ी, नाहर आदि इन पात्रों के साथ भी कोई कथा जुड़ी होती है। ये पात्र गबरी के एक खेल के केन्द्र होते हैं। राजस्थान में गबरी का उद्देश्य पहले धार्मिक था, क्रमशः यह मनोरंजनार्थ अधिक हुआ और फिर व्यावसायिक होता गया। चूंकि गबरी संगीत प्रधान है, इसलिए इसमें अभिनय और नृत्य की रीढ़ गीत होते हैं। इन गीतों में भी संवाद प्रस्तुत किये जाते हैं। गबरी के मध्य में स्वांगों का विधान होता है, ये स्वांग शंकर्या गीत पर किया जाता है।

गबरी नृत्य लोक संस्कृति, लोकजीवन के रहन–सहन, आचार–विचार, क्रियाकर्म, रूढ़ी विश्वास, जीवन–दर्शन और सांस्कृतिक आदर्शों से ओत–प्रोत होता है, इसलिए गबरी की समस्त संरचना एक निश्चित आधार पर एक निश्चित मोटिव के साथ होती है। भीलों का यह नाट्य यद्यपि ऐसे लोगों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है जिनकी पृष्ठभूमि असांस्कृतिक या अपराधपरक रही है। इनसे यह कार्य करवाकर लोकजीवन में प्रेम, ममता, करुणा, सौहार्द, वात्सल्य, स्नेह, त्याग आदि भावनाओं को जागृत करके उन्हें व्यावहारिक जीवन में प्रस्तुत करने को प्रेरित किया जाता है। गबरी के स्वांग की नकल पर अन्य प्रदेशों में भी स्वांग की संरचना होती रही है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि गबरी नृत्य नाट्य केवल क्षेत्रीय आधार पर नहीं वरन् समस्त हिन्दी प्रदेश को प्रभावित करने वाला सिद्ध हुआ है।

उत्तर मध्य युग तक देश में धर्म के नाम पर एक छद्म अपराधी संप्रदाय प्रच्छन्न रूप में उठ खड़ा हुआ, जिसमें पूर्व से पश्चिम तक तथा उत्तर से दक्षिण तक किसी न किसी माध्यम से जनसंचार करने का लक्षण बनाया। इस सम्प्रदाय में अधिकांश जिप्सी वर्ग की जातियां, जनजातियां दीक्षित होती रहीं। राजस्थान में मीणा, कंजर, किसबिन, बेड़िया, भील, शबर, गौंड़ आदि वर्ग से स्त्री, पुरुष इस सम्प्रदाय के सहायक बने।

कालक्रम इसकी प्रगति नहीं आंकी जा सकती है, पर इस संप्रदाय के द्वारा होने वाले नुकसान बहुत अधिक हैं। इस संप्रदाय का जन्म मध्यपूर्व में हुआ था। संक्षेप में इसका इतिहास यहां इसलिये बताना आवश्यक है क्योंकि इस वर्ग के उन्मूलन के साथ इसमें लीन जातियों की लड़कियों को अपनी अप्रतिम सुन्दरता, शारीरिक संघटन, अद्म्य उत्साह, निर्भीकता, मानसिक और कायिक ऊर्जा के कारण तत्कालीन सामंतों ने अपनाने की चेष्टा की, जो बाद में बहुत बड़ी सामाजिक विच्छिन्नता का कारण बनी। यह विच्छिन्नता अंग्रेजी साम्राज्य में बढ़ती ही गई और भारत के स्वतंत्र होते–होते एक अभिशॉप में परिणित हो गई।

मुगलकाल में राज परिवारों में प्रभावशाली व्यक्ति को मंच से हटाने के लिए दो तरीके अपनाये जाते थे। एक तो यह कि अधिक प्रशंसा करके उन्हें निकम्मा बनाया जाता था, दूसरा यह था कि षड्यंत्र को सफल बनाने के लिए ऐसे लोगों को चुपचाप नियुक्त किया जाता था, जो छद्मवेशी होते थे और मंच से हटाये जाने वाले व्यक्ति को नियत समय पर नेस्तनाबूत कर देते थे। ईरान में इसका प्रारम्भ हसन नाम के व्यक्ति से विशेष रूप से माना जाता है। वह बहुत ही महत्वाकांक्षी था, अपने कर्त्तव्यों के कारण वह निधामुल मुल्क का मंत्री बन गया। सुल्तान को उसकी नियत पर शक हो गया और उसने उसे बाहर निकाल दिया। हसन ने स्वयं को ईश्वर का अवतार बताया और प्रतिष्ठित व्यक्तियों को गुप्त रूप से मारने के लिए ईश्वर का कार्य और स्वर्ग की प्राप्ति बताया। यही व्यक्ति फिदाई बनाने वाला साबित हुआ। हसन के अनुयायी भारत में बड़ी संख्या में गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश आदि में पाये जाते हैं, वैसे तो ये मुसलमान सियापंथी मुसलमान होते हैं, पर इनमें हिन्दुओं से मुसलमान परिवर्तित होने वाले व्यक्तियों की संख्या अधिक है। इसलिए हिन्दुओं के रीति–रिवाज भी मिलते हैं।

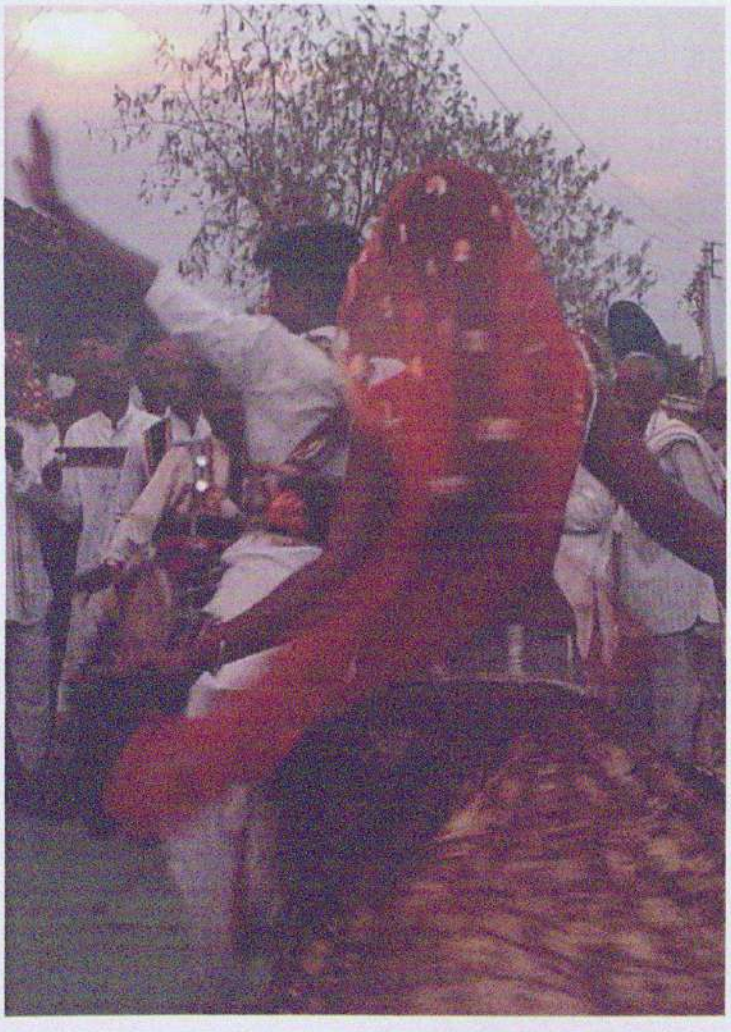

इनसे वे लोग भी जुड़े थे जो देवी काली की उपासना करने वाले जनजाति के लोग थे। उनमें चाहे राजस्थान हो या मध्यप्रदेश, गुजराज हो या महाराष्ट्र विशेषकर या तो घुमंतू जातियां इस प्रकार की उपासना करती हैं अथवा अपराधीवृत्ति वाली जातियां देवी को अपना इष्ट मानती हैं। राजस्थान का गबरी नृत्य भी प्रकारान्तर से शक्ति की उपासना का नृत्य माना जाता है।

वर्तमान में राई का स्वरूप अत्यन्त अधूरा है, क्योंकि इसमें अन्य लोकगीतों की भांति शक्तिपूजा, गणेशपूजा, महेशपूजा आदि सब तो हैं, पर इन सबका कोई संदर्भ सामने नहीं आता है। लोक इसे अन्य लोकनृत्यों की भांति इसलिए प्रारम्भ करे हैं, जिससे कि नृत्य निर्विघ्न समाप्त हो और जनरंजन अच्छी तरह से हो सके। मेरे विचार से मूल राई को पौराणिक काल के बाद प्रचलित रहने का अवसर नहीं मिला, क्योंकि मूल राई एक अनुष्ठान के साथ–साथ जनरंजन के लिए केवल श्रृंगार को ही प्रस्तुत नहीं करतीं थी। उसके पीछे एक मोटिव होता था जो विनोद के साथ–साथ एक संदेश भी देता था। राई को परिस्थितियों ने तोड़ दिया, क्योंकि देश में छोटे–छोटे राज्यों में युद्ध हुए। एक राजा नो दूसरे राजा को परास्त करने में अपनी समस्त शक्ति झोंक दी। युद्धों के बाद युद्ध होते थे। कलात्मक और अनुष्ठानात्मक कलारूपों को प्रदर्शित या अभिव्यक्त नहीं किया जा सका, इसलिए आधा जैसे लोकगाथा काव्य में यदि नृत्य की चर्चा आयी है तो वह केवल इतनी ही – नचे कंचनी तेहि भवना बामे। इससे ज्यादा वैभव की बात बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के अंत तक किसी काव्य ग्रंथ में नहीं मिलती है। यह वह समय था, जब अपभ्रंश में अनेक महाकाव्य लिखे गये। उनमें श्री नृत्य का नाम भर आया। राई नृत्य स्वतंत्र रूप में बुन्देलखण्ड की भूमि पर

ही बचा रहा है जिसे उत्तरी बुन्देलखण्ड में सख्याउ फाग से जोड़ दिया है और यह कह दिया है कि वर्तमान में राई तक आते–आते राई से दोहा विलुप्त हो गया।

इसका आधार चौकड़िया फाग होती है जो उत्तरी बुन्देलखण्ड तक ही सीमित है। यह कहना कि राई का यही विधान बुन्देलखण्ड में सर्वत्र पाया जाता है, उचित नहीं है। राई लोकनृत्य पूर्णतः पौराणिक पृष्ठभूमि से आया है, जिसमें कम से कम चार चरण होते हैं। ये चारों चरण एक विधान के अंतर्गत माने गये हैं। प्रारंभ में सुमरनी जिसमें गणेश, सरस्वती, देवी, शिव आदि को मानकर अन्य देवताओं को स्मरण किया जाता है। तत्पश्चात् एक ख्याल गाया जाता है। वह स्वांग से अलग होता है। ख्याल के आधार पर सौबत को आभास मिल जाता है कि गीत की कथा क्या होगी और नर्तक नर्तकी को किस प्रकार नृत्य करना होगा। इसके उपरांत लम्बी डोरी का स्वांग गाया जाता है। जो नृत्य को विकास देता है और अंत में फाग आती है। यह प्रक्रिया हर नई फाग के साथ अपनाई जाती है। ध्यान देने की बात है कि यह नृत्य विलम्बित शुरू होता है, दोहा, ख्याल और स्वांग तक कहरवां का प्रयोग होता है इसके बाद फाग के बाद द्रुत संगीत दिया जाता है। राई गीतों में श्रृंगार तत्व प्रमुख होता है। परन्तु दूसरे प्रहर तक पहुंचते–पहुंचते इसका रस बदल जाता है। श्रृंगार के साथ हास्य, करुणा आदि के गीत आ जाते हैं, तीसरे और चौथे प्रहर में भक्ति योग आ जाता है जो ब्रह्म मुहूर्त तक भैरवी तक पहुंच जाती है। वर्तमान में बुन्देलखण्ड में जिस राई को प्रस्तुत किया जाता है, वह केवल श्रृंगारपरक एवं भक्तिपरक है। वास्तव में मूलरूप को लोक ने इसलिए भुला दिया कि राई को दरबारी संस्कृति के कारण विशेष महत्व नहीं दिया गया, जबकि मूल राई की अवधारणा अत्यन्त विशद् है। लोक साहित्य पर लिखते समय डॉ. नर्मदाप्रसाद गुप्त के छतरपुर और पन्ना आदि के सर्वेक्षण का परिणाम माना जाता है, परन्तु गीत की अवधारणा

एक पंक्ति से नहीं होती, गीत का मुखड़ा एक पंक्ति का हो सकता है इसलिए गायक रचनाकार नर्तकियां यदि इस एक पंक्ति के राई गीत को गाती हैं तो इसमें असंगति लगती है। क्योंकि गीत छोटा या बड़ा, उसका कलेवर ही इसके संदेश अथवा भाव को प्रकट करता है। वास्तव में यह प्रारंभिक पंक्ति स्थाई होती है। राई के मूल में यह एक पंक्ति होती है, इसी के आगे ख्याल जुड़ता है या स्वांग आता है कभी–कभी टोरा भी पंक्ति के स्थान पर दोहा भी प्रयुक्त किया जाता है। यदि टोरा के उपरांत ख्याल आता है तो वह एक से अधिक पंक्तियों का होता है और अपना संदेश पूर्ण करने पर समाप्त होता है। यदि स्वांग आता है तो इसके गीत तत्व तमें संदेश होता है परन्तु अत्यन्त संक्षिप्त, स्वांग गीत के साथ–साथ अपने संदेश को संप्रेषित करने के लिए अभिनीत भी किया जाता है। इसलिए भी स्वांग का प्रयोग आरंभ में न करके ख्याल का प्रयोग किया जाता है। ख्याल अपने पंक्तियों का हो सकता है। वह आगे आने वाली फाग से जुड़ता है और नृत्य को विलंबित से द्रुतगति में ले जाता है। इसलिए उत्तरी बुन्देलखण्ड में प्रचलित एक पंक्ति के राई गीत को स्वीकार करना संभव नहीं है। वस्तुतः राई के गीत में तीन कड़ियां होती हैं, जिनके आधार पर नृत्य विलंबित से विकास पाकर द्रुतगति की ओर प्रस्तुत होता है।

राई की गायिकी अत्यन्त सीधी सादी, इसकी लय भी एक निश्चित विशिष्टता लिये हुए होती है। इससे हटने पर राई का मजा नहीं रह जाता। गायक, मृदंग, ढोलक, नगड़िया, टिमकी, झांझ, मंजीरा, झींका, किंगरी आदि लोक वाद्यों की संगत में सुमरनी के बाद कहरवा या दादरा ताल में मध्य लय से गाते हैं, इसी की आवृत्ति दुगुन और चौगुन में द्रुतलय में होती है। चूंकि एक ही धुन ही देर तक आवृत्ति होती है, उसमें मृदंगिया, टिमकी वाला और नर्तकियां अपने विभिन्न प्रकार के भावों के भावों और चरणों को विन्यास देती हैं। भाव या

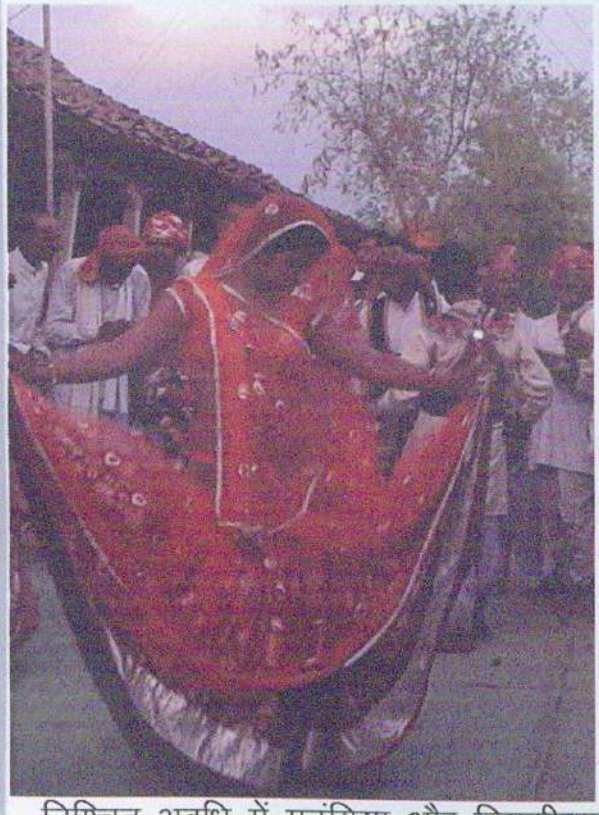

गीत के अनुसार अनेक शारीरिक कौशल प्रस्तुत करती हैं, इसमें पिरामिड से लेकर अनेक प्रकार के शारीरिक संतुलन वाली क्रिया कौशल दिखाये जाते हैं, यहीं से राई तीसरे चरण में पहुंचती है, जो मुख्य पंक्तियों की आवृत्ति करते–करते द्रुत हो जाती है। इस समय नृतय में कारवां का रूप बदलकर उन्नमत्ता वाला स्वच्छंद संगीत उभर आता है। राई का चरम उन्मेश एक संगीतमय उन्मुक्तता और अठखेलियों का होता है। एक निश्चित अवधि में मृदंगिया और टिमकीवादक तीन संकेत के बाद गीत और नृत्य दोनों को एक साथ अचानक समाप्त कर देते हैं। वास्तव में यह नृतय अपनी पराकाष्ठा में संदेह निहित भाव का पूर्ण परिपाक के साथ वातावरण बना देता है। जिनका दर्शकों पर इतना प्रभाव पड़ता है कि पराकाष्ठा के अंतिम क्षणों में उनके हाथ और पैर नृत्य की गति से थिरकने लगते हैं। यही राई की विशेषता है जो जनसमूह को बांधे रखती है। दक्षिण बुन्देलखण्ड में मध्यलय के बाद जैसे ही गायिकी में आवृत्तियां बढ़ती हैं और नृत्य के चरणों

में द्रुतगति प्रवेश करती है, रमतूला और अलगोजा और शंख जैसे वाद्यों को भी बजाया जाता है, जिसकी संगत ढपला जैसे वाद्य भी देने लगते हैं, यह समां कुछ और ही होता है, जनसमूह की किलकारियों में नर्तकी (बेड़नी) की किलकारी मिलने से एक अलग संगीतमय निष्कृति होती है, इस प्रकार राई नृत्य शास्त्रीय और अर्द्धशास्त्रीय लोकनृत्यों की तुलना में एक विशिष्ट शास्त्रीय लोकनृत्य का बन जाता है।

राई वस्तुतः श्रृंगारपरक लोकनृत्य माना जाता है, परन्तु उसकी प्रकृति रात बीतते–बीतते चौथे पहर तक भक्ति परक हो जाती है, यह भक्ति जहां नायक–नायिका के निमित्त होनी थी, वहां यह आत्मा और परमात्मा के प्रति द्वियअर्थक बन जाती है।

राई का महत्व बुन्देलखण्ड में विशेष इसलिए है क्योंकि यह बुन्देलों के इतिहास के साथ विशिष्ट रूप से जुड़ गई है। अब प्रश्न उठता है कि बेड़िनी है क्या? केवल विट शब्द से बेड़िनी बना देने पर प्राचीन कालीन गिट का स्मरण हो आता है, (न नटः न बिटः न च गायनः) से बेड़िनी का संकेत तो मिलता है परन्तु यह बात स्पष्ट नहीं होती कि बेड़िनी वात्स्यायन के कामसूत्र की नटी (रंग=योषित) ही क्यों है, बेड़िनी शब्द बेड़िया जाति की देन है और यह जाति वैदिक काल से दूसरे नामों से अपना जीवन–यापन करती आ रही है।

वैदिक युग में भी कुछ ऐसी जातियां थीं जो वन में रहते हुए समाज से इसलिए विच्छिन्न थी क्योंकि एक तो वे वन में रहती थीं दूसरे उनकी वृत्तियों में सामाजिक जीवन का संश्लेष नहीं था, अनेक बार ये आपराधिक जातियों के रूप में स्वीकार की गई हैं, जबकि शासन के लोग इनका उपयोग संदेश भेजने, दूसरे जनपद या राज्यों की जासूसी करने और त्वरित गति से एकल या सामूहिक आक्रमण करने में गुरिल्ला लोगों की भांति करते थे, इनके एक प्रकार से गुप्तचर विभाग में ही रखा जाता था इसलिए इनके नाम भी अलग–अलग किस्म के मीणा, कंजर, बंजारा, वांछड़ा, कबूतरी, किसविन, बेड़िया आदि। इन जातियों को मध्य युग में थोड़ा प्रकाशन मिला है, जबकि आधा आल्हाखण्ड, परमाल रासो आदि में इसलिए उल्लेख नहीं मिलता क्योंकि ये वनस्फर जाति के लोगों के बीच में ही आल्हा–ऊदल का पालन–पोषण हुआ था, इससे आल्हा–ऊदल को भी वनस्फर कहकर ओछी जाति का माना गया था। छिताई चरित में (15वीं शताब्दी) मृदंग के साथ नृत्य की संगति मिलती है पर वह नर्तकी का ऐसा बोध नहीं करता है जैसा कि जायसी के पद्मावत में मिलता है

जिनसे बुन्देलखण्ड के समाज का सही चित्रण हो सकता है, बेड़िया जाति अपराधी वृत्ति को छोड़कर अब कलात्मक नृत्य में समाविष्ट कर ली गई है। इसका एक ही सूत्र मुगलकाल से खोजा जा सकता है, मुगल सेनाओं निमित्त विभिन्न स्थानों पर मीना बाजार लगते थे उनमें मुजरा की व्यस्था होती थी। ये मुजरे हिन्दू और मुसलमान दोनों जाति की वेश्याएं करती थीं, इनके स्कूल तय होते थे, जिनमें मुजरा तहजीब और भाषा का अदब सिखाया जाता था, इन वैश्याओं या तवायफों को राजकी संरक्षण तो मिला हुआ था, परन्तु वे सैनिकों के साथ नहीं रह सकती थी, इसलिए अनेक बार मीना बाजारों के लिए इन विच्छिन्न परम्परा की जातियों के कलाकार (विशेषकर युवतियां) आमंत्रित कर लिये जाते थे,

ये बेड़नियां जो नृत्य करती थीं, वह राही नृत्य कहलाता था। एक अन्य सूत्र से यह ज्ञात होता है कि ब्रिटिशकाल में ठग और पिंडारी दूर–दूर तक विभिन्न काफिलों के साथ जाकर ठगी और लूटपाट का कार्य करते थे, इनके साथ ही स्त्रियां काम करती थीं जो काफिलों के विभिन्न पड़ावों पर मनोरंजनार्थ नृत्य करती थीं, यह नृत्य भी राही नृत्य कहलाता था। इस नृत्य में बेड़िनी ही नृत्य कर सकती थी क्योंकि उसमें अप्रतिम ऊर्जा, अंग संचालन का कौशल और क्षपणखी वृत्ति होने के कारण एक विलक्षण सुख मिलता था। दोनों सूत्रों के आधार पर बेड़िया जाति का कलात्मक होने का अभिप्राय तो सिद्ध होता है, साथ ही राई को राही करने का औचित्य भी प्रकट हो जाता है। बेड़िया जाति की नर्तकियां बुन्देलखण्ड की राई ही विशेष तौर पर जुड़ी है अन्यथा अन्य जातियों जैसे भीलों आदि के द्वारा प्रस्तुत किया गया गबरी नृत्य भी राई के समान माना जाता है।

राई में प्रयुक्त बेड़नियों को इसी समय के आसपास जमींदारों और सम्पन्न क्षत्रियों ने अपनी शानो–शौकत के लिए पहले रखैल बनाया फिर घनिष्ठता की चरम सीमा में पत्नी बनाने का हौसला किया, ये उनको अपनाने में सफल हो गये, पर वंश में प्रवेश नहीं दिला पाये इसलिए उन्हें इतनी संभव दूरी पर घर बनाकर रखा गया कि वे सहज भाव से उपलब्ध हो सकें। यहां से बेड़नियों का एक अलग जीवन शस्त्र बना। इसमें प्रत्येक ठाकुर की एक ऐसी पत्नी को ठाकुर की आय से एक निश्चित राशि, अन्न, वस्त्र आदि की व्यवस्था की जाती थी, उनके बच्चे भी होते थे, जो कलाकार के रूप में ही कार्य करते थे। ये नर्तकियां कहीं राई करने नहीं जाती थीं। विशिष्ट अवसरों पर अपने ही संरक्षकों का मनोरंजन व मनोविनोद करती थीं। सम्पन्न क्षत्रिय, ब्राह्मण और जमींदार वास्तव में अपनी सामंतीवृत्ति के पोषण के लिए ओरछा के महाराज इन्द्रजीत सिंह की प्रवीणराय पातुर का उदाहरण अपना

रहे थे। जब तक मालगुजारी प्रथा रही, रजवाड़े रहे इनका निर्वाह होता गया। इन व्यक्तियों की शान में जब कमी आई तो ये बेड़िनियों का परिवार इनको गले की हड्डी जैसा बन गया, यदि ये इनकी अपेक्षाओं की पूर्ति करते हैं तो उन्हें बहुत कुछ देना पड़ता है और यदि वे ऐसा नहीं कर पाते हैं तो उनकी शान ही नहीं घटती, उल्टे फजीहत भी होती है।

वैदिक काल में बसंतोत्सव में से जुड़ा यह नृत्य किसी जमाने में चौमासा को छोड़कर प्रमुख पर्वों पर किया जाता था। इसका उस समय फसल और फाग से विशेष संबंध था, अन्य त्यौहारों में इसका तब तक प्रयोग नहीं होता जब तक कि कोई अनुष्ठान या मान्यता न मान ली जाये। राई की मादकता और मधुर संगीत लहरी की अपनी पहचान है, लोकनृत्य होते हुए भी यह अर्द्धशास्त्रीय आधार रखता है। इसके पुराने संदर्भों में इतिहास काल में संस्कृत साहित्य में सीधा उल्लेख तो नहीं मिलता है, पर प्रकारांतर से सूचना अवश्य मिलती है। इतिहासकाल में लोकोत्सव के माध्यम से यह माना जा सकता है कि इस भू–भाग में भी सामूहिक नृत्य अवश्य हुए होंगे, क्योंकि 1000 ईसवी के पूर्व तक संस्कृत और अपभ्रंश की साहित्यिक परम्परायें रहीं, भाषा, काव्य इन्हीं के माध्यम से विकसित हुआ है। यह वाचिक परम्परा के लोक काव्य में विशद वर्णन के साथ नहीं आया है, क्योंकि भाषा काव्य का प्रथम चरण दोहा और चौपाइयों तक ही सीमित रहा है तथा युग की प्रवृत्तियों ने वीररस की प्रधानता के कारण इसे अवसर नहीं दिया।

मृदंगिया और बेड़नी की जोड़ी की तरह ही मृदंग और टिमकी में भी नर–मादा का सा संबंध होता है और इन वाद्य लय के साथ (मंजीरे की ध्वनि) – मंजीरे, बारातियों की तरह रस बरसाते चलते हैं।

(मंजीरे की ध्वनि उभरकर धीमें–धीमें समाप्त होती है)

(मृदंग पार्श्व में)

मृदंगवाचक सधे हाथों से मृदंग पर थाप देकर कभी सावन–भादों का गहन गंभीर मेघनाद करता है तो कभी सुनार की तरह सुधर कोमल आघात कर चुटकियां लेता। कजियां खिलाता चलता है और (टिमकी की ध्वनि) और टिमकी जैसे – दूर किसी गहरे तालाब में गोता लगा गई और कभी, वैसे ध्वनि की उभेद्य दीवार खड़ी कर दी हो।

(धीमे–धीमे टिमकी की ध्वनि उभरकर समाप्त हो जाती है)

राई में रंग–गुलाल के लोकगीत बसंत पंचमी से रंग पंचमी तक गाये जाते हैं। (होली गीत समाप्त) यदि गांव में मिलने–जुलने वालों के परिवार में किसी सदस्य की मृत्यु हो जाती है तो होली के अवसर पर दुःखी परिवार को सांत्वना देने के लिए पूरी की पूरी राई मंडली अनरये की फागें गाती हुई उसके घर जाती है। इन फागों में आत्मा परमात्मा का मिलन, आत्मा अमर है, शरीर नश्वर है आदि भावों को प्रस्तुत किया जाता है।

(अनरये की फाग गीत – हंसा भये चालन हार बहुर नई मिलबे खो)

जैसा कि हमने पहले ही बताया था कि राई में बेड़नी अकेली पेशेवर होती है, जो बेड़िया जाति की होती है। नट की तरह ही बेड़िया जाति भी घुमंतू जातियों में से एक है। पर अब ये स्थायी रूप में किसी एक स्थान में बसने लगे हैं। पुरुष खेती करते हैं और महिलायें राई नाचती हैं। बचे समय में ये खेती–बाड़ी में भी हाथ बंटाती हैं। आइये भिन्न आयु की दो बेड़नियों से भेंट करें।

भेंटवार्ता : बेड़नी क्रमांक 1

प्रश्न : आपका क्या नाम है?

उत्तर : श्रीबाई। (बदला नाम)

प्रश्न : आपने कब से नाचना शुरू किया है?

उत्तर :करीब–करीब 10–12 साल की थी तब से।

प्रश्न : आपने कुछ पढ़ाई–लिखाई की है?

उत्तर :नहीं।

प्रश्न : आपको नाच का शौक कैसे हुआ?

उत्तर :हमारे गांव में इस चीज का चलन है।

प्रश्न : श्रीबाई ये जो राई का नाच होता है, ये कौन–सी जाति की औरतें करती हैं?

उत्तर : हमारे मां–बाप से होता आया है और नाचती आई हैं। इस रंग का ऐसा तमाश है कि अच्छी–अच्छी जवान लड़कियों के हृदय में समा जाता है तो वे अपनी जाति को और घर कुटुम्ब को त्याग के भी इसमें लीन हो जाती हैं।

प्रश्न : ये नाच किस जाति ने शुरू किया होगा?

उत्तर :बेड़नी जाति ने।

प्रश्न : जब दूसरी जाति की औरतें नाचना शुरू कर देती हैं तो क्या उन्हें भी बेड़नी कहते हैं?

उत्तर :हां, उनको भी लोग–बाग बेड़नी कहते हैं।

प्रश्न : श्रीबाई, असली चीज क्या होती है? महत्व नाच का होता है या उसके बजाने या गाने का?

उत्तर : असली चीज साज–बाज, सुर के चार गुईयां गाने बजाने वाले हैं, उसके बाद नाच आता है।

प्रश्न : क्या ये नाच जिन्दा रहेगा?

उत्तर : जिन लोग–बागों के दिलों में खुशियां हैं वे इसे करेंगे और जिनके दिलों में दाग आ गया है या सुख उठा लिया है वे हटा लेंगे, अपने दिल से।

भेंटवार्ता : बेड़नी क्रमांक 2

प्रश्न : अंगूरीबाई आप कितनी उम्र से नाच रही हो ?

उत्तर : 12–13 साल की उम्र से।

प्रश्न : कहीं से सीखा भी है इसको?

उत्तर : हां हमारी बहनों से, बुआ से, वे सिखाती थीं।

प्रश्न : आप कुछ पढ़ी–लिखी भी हैं?

उत्तर : दूसरी क्लास। जबसे नाचने लगे तो छोड़ दिया।

प्रश्न : भविष्य में भी आप नाच करती जायेंगी या बंद कर देंगी?

उत्तर : करते जायेंगे।

सोने–चांदी के क्षेत्रीय आभूषण

राई में शारीरिक प्रदर्शन इतना महत्व नृत्यकला का होता है। पारिवारिक वातावरण और अनुभव ही इनका गुरु होता है, लेकिन अब इस कला में भी आधुनिक युग के चिन्ह परिलक्षित होने लगे हैं

बेड़नी सोने–चांदी के क्षेत्रीय आभूषणों से सजकर जब दर्शकों के सामने आती है तो मेनका और रम्भा की कल्पना साकार हो जाती है। केशों में गुंथे स्वर्ण फूल, माथे पर केंच का बड़ा–सा बूंदा और झूलती हुई सोने की बेंदी, आंखों में काजल की पतली कोर, नाक में बड़ी–सी गोल नथ, मुंह में पान का बीड़ा, कानों में कर्ण फूल, सांकर, गले में तिदाना, हमेल, हार, लड़ियां, बोहों में बोटा, बांकें, कलाई में गजरा, कंकना, चूड़ा, पटेला और चूड़ियां, अंगुलियों में सोने–चांदी की मुंदरियां और छल्ले, कमर में करधनी, पांवों में घुंघरू की चौरासी और पावों की उंगलियों में बजने वाली बिछियां, चूड़ीदार पायजामें के ऊपर लगभग बत्तीस हाथ का साटन या सिल्क का लहंगा, मखमल या रेशम की चोली और रेशमी फूलों की रंगीन ओढ़नी, आजकल चेहरे पर और होंठों पर लिपिस्टिक का चलन भी चल गया है।

चित्र शीश फूल

चित्र: शीश फूल

बुन्देलखण्ड की जनरंजनी लोककथा राई में सभी वर्गों, समुदायों की अपनी कला किरण से आकर्षित किया है। बुन्देलखण्ड के इस खुले वातावरण से ज्येष्ठ की धूप और सावन के मेघ झांकते हें। रसरंगी जीवन को सप्त स्वरी सरगम निससृत होता रहता है। नृत्य, संगीत, अभिनय और शौर्य प्रदर्शन के नक्षत्रों से जन मनोरंजन करती हुई राई लगभग धुरी है। कथकली, ओडिसी और मणिपुरी नृत्य किसी समय लोक मनोरंजन की मुक्त धारा प्रवाहित करते थे। कालांतर में शासनोक्ति रीति–नीति ने इसका सुगठित एवं सुस्पष्ट रूप संवार दिया है। बुन्देलखण्ड की राई भी लोक कलाकारों, कलाशोधकों, विशेषज्ञों और विवेचकों की बाट जोहे प्रतीक्षारत हैं – विस्तुत एवं ऊंची आवाज में उड़ान भरने के लिए।

चित्र: चूरा

चित्र: कंगना

चित्र: बताने

चित्र: बैंदा

चित्र: बिंदिया

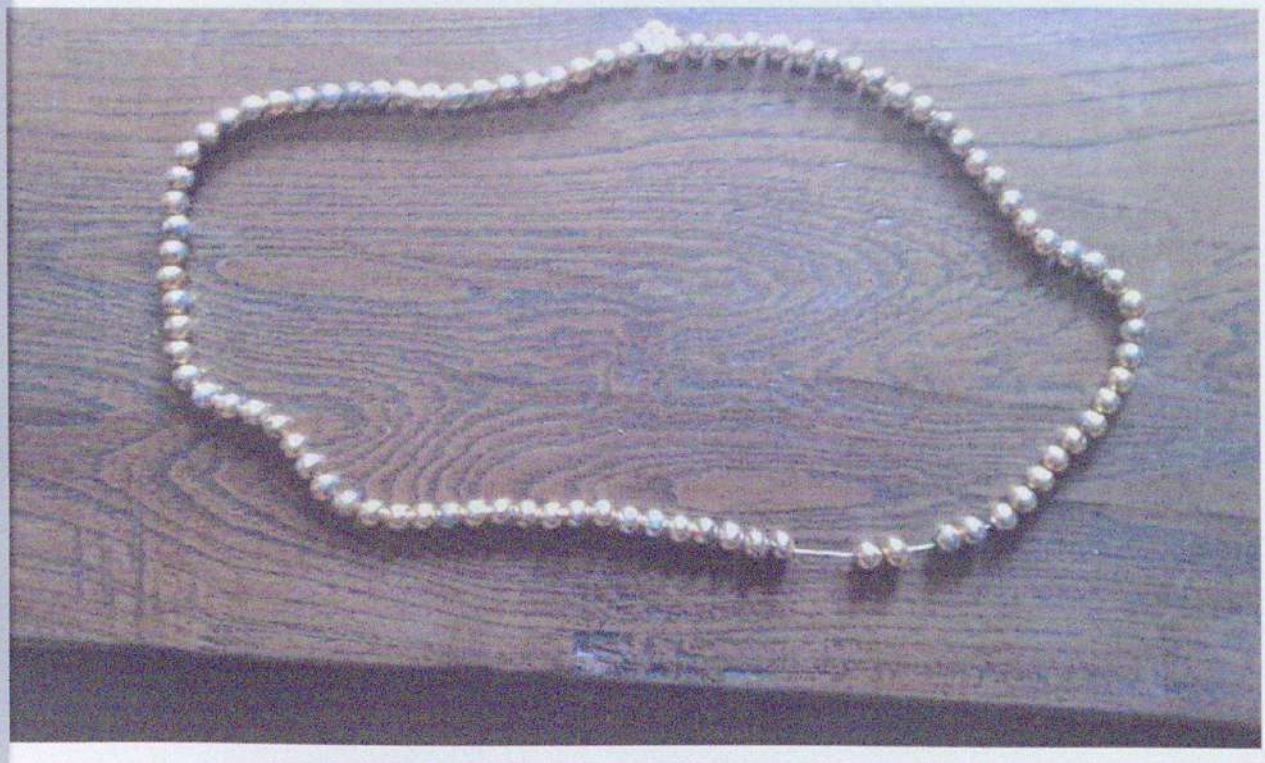

चित्र: माला

चित्र: तिदाना

चित्र: तिदाना

चित्र: तिदाना

चित्र: गजरा

चित्र: कमर करधोनी

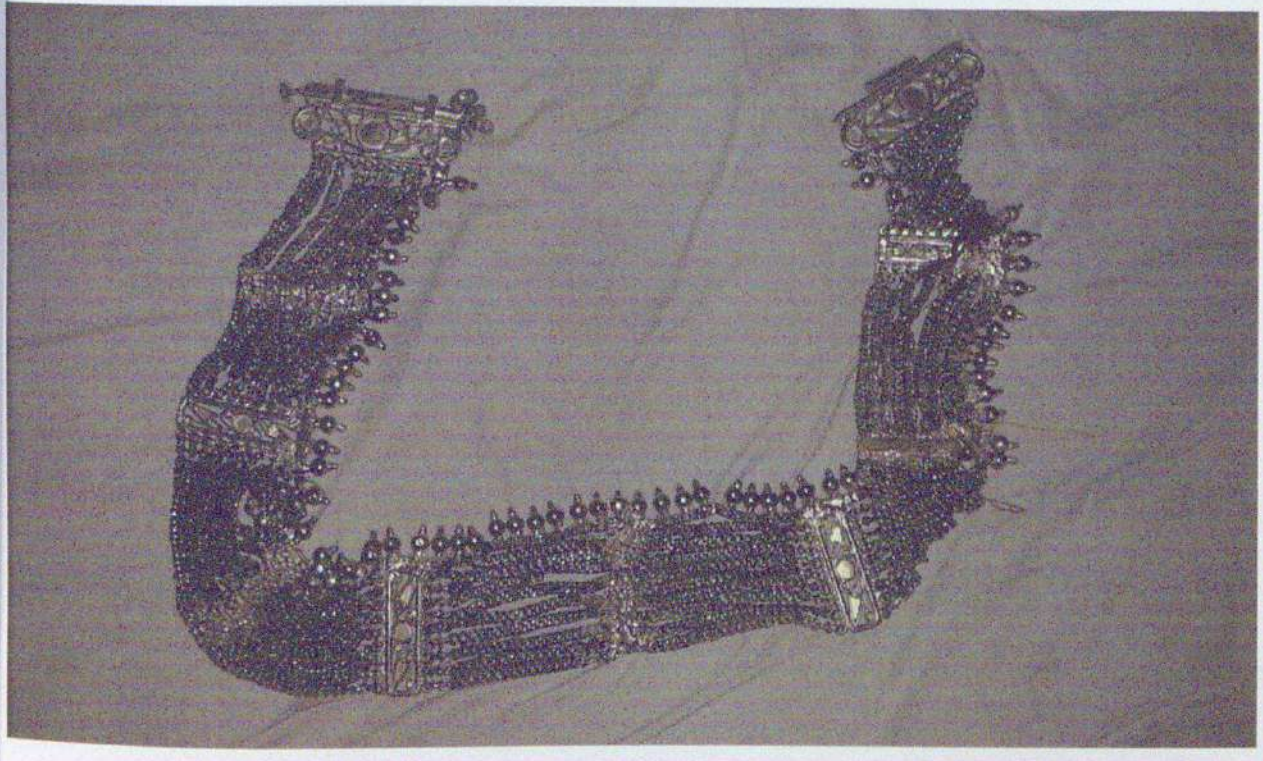

आदर्श राई का इतिहास

विभिन्न राइयों के आधार पर राई–आदर्श राई का इतिहास ही सृष्टि कार्य का इतिहास है। सतयुग में शिव–लीलाओं का विशेष प्रचलन था। इनको भस्मासुर की कथा को सभी जानते हैं। राई का संदर्भ इससे है। राई राजा, प्रभु, मालिक और महाराज के रूप में तो जानी ही जाती है परन्तु राई अनाज का एक दाना भी होता है जिसकी लघुता को पहाड़ की विशालता से मापा जाता है। पहाड़ अचल, अहं और अडिग, विशाल, पराजेय और सर्वशक्तिमान का प्रतीक है। व्यक्ति में अहं का पहाड़, उससे गलत कार्य करवाता है। ऐसा तभी होता है जब वह गलत नीति अपना लेता है। उसे राई जैसा लघु–छोटा बनाने का कार्य महाशक्ति ही कर सकती है। ऐसा ही युग–युगों से होता आ रहा है।

इसका प्रमुख कारण यह है कि वैदिक साहित्य तक आते–आते लोक में विभिन्न स्थानों पर कुछ परम्परायें विकसित हो गई थीं, जिनका प्रदर्शन या तो कराया जाता था अथवा विभिनन अवसरों पर लोग स्वयं आयोजित करते थे। ये आयोजन थे नव संवत्सर, नव श्येष्ठी अथवा नवात्र प्राप्ति का अवसर। प्रारंभिक अवस्था में इन आयोजनों का संबंध हर्ष और उल्लास के कारण प्रारंभ हुआ, परवर्तीकाल में इसे उत्सव के रूप में स्वीकार किया गया और कालांतर में जैसे ही ग्राम, जनपद, राज्य आदि की स्थापना हुई, इसका रूप बदलता गया। प्रारम्भ में इन आयोजनों में उत्साह की अभिव्यक्ति में उन्माद और थिरकनमय अंग संचालन को महत्व दिया। संगीत में गायन वैदिक मंत्रों के साथ आया और नृत्य की पृष्ठभूमि में वाद्ययंत्र आविष्कृत किये गये।

सामान्यतया भारत में नृत्य और नाट्यकला एक–दूसरे की अनुपूरक ही रही है। उत्तर वैदिक काल में शासकों, सामंतों और स्थानीय प्रधानों के कला को संरक्षण दिया। उस सामय तक

विवाह योग्य युवक–युवती ऐसे अवसरों पर अपने दूसरे साथी का चुनाव कर लेते थे। नृत्य में स्फूर्ति बनी रहे, इस निमित्त दोनों सोमरस का पान करते थे। स्त्रियां अपने पैरों को सजातीं और दोनों आयोजन के अनुकूल वस्त्र सज्जा करते थे। इस समय तक नाट्कों के अनेक प्रकार बन चुके थे। रज्जू नृत्य, सलिल नृत्य, अरुण नृत्य, पुष्प नृत्य और बसंत नृत्य। इन नृत्यों का संदर्भ विभिन्न ऋतिओं में देखा जा सकता है।

लोकनृत्यों में विभिनन महापुरुषों और देवताओं के प्रशंसात्मक गीत गाये जाते हैं। ऋग्वेद में तो इन्हें विभिन्न वाद्यों के साथ नृतय करते दिखाया गया है। वैदिक युग में स्त्री और पुरुष को समान अधिकार नहीं, विभिन्न कलाओं और कर्मक्षेत्रों में जाने की स्वतंत्रता थी। इसलिए नृत्य और नाट्य दोनों में इनका योगदान स्वच्छंदता के साथ मिलता है। यह परम्परा रामायण काल में चलती रही। विभिन्न यज्ञों के बाद प्रतिभाशाली व्यक्ति चाहे वह किसी भी जाति, समुदाय आदि का क्यों न हो, इन कलाओं को सीखकर व व्यवहार में लाकर प्रस्तुत करता था। यह एक विचित्र संयोग है कि नृतय कला, नाट्य कला से आगे निकल गई। नाटयकला में पूरी स्वतंत्रता के साथ सज्जा संवाद और मंच की विशेष व्यवस्था अनिवार्य हो गई थी। लोक में सुविधा की प्रवृत्ति विशेष होती है, चाहे वह बोलने की बात हो या करने की। लोक सहजता की ओर अग्रसर होता है। इसलिए जहां पहले नृत्य और नाट्य साथ–साथ होते थे, वहां केवल नृत्य आयोजित होने लगे। नाटक लोक का होते हुए भी विशिष्ट लोगों की श्रेणी का हो गया। रामायण काल में इसे शिक्षा अधिग्रहण करने के बाद दिया जाने लगा। नृत्य और नाटक दोनों प्रदर्शनकारी कलायें हैं, पर एक–दूसरे के अनुपूरक होते हुए भी एक साथ नहीं चल सके। इस समय तक राजाओं को राज सिंहासन पर बैठते समय ही एक प्रदर्शनकारी कलायें प्रस्तुत की गईं। राजाओं ने अपने अंतःपुर में सुन्दर युवतियों को नृत्य तथा अन्य

कलाओं के लिए आश्रय देना प्रारम्भ कर दिया। रावण के महलों में विभिन्न वर्ग के किन्नर, गंधर्व आदि जाति की कन्यायें हमेशा होती थीं। राम जन्म के समय अनेक ग्रहों ने राजमार्ग पर आकर हर्ष और उल्लास में नृत्य का प्रदर्शन किया था। अयोध्या में सभी कलाओं के मर्मज्ञ रहते थे। बाद में युवराज या युवराज्ञी बनाने पर विभिन्न त्यौहारों या उत्सवों में इनको प्रस्तुत किया गया था। मनुष्य ही नहीं राक्षणगण भी अपने इष्ट को प्रसन्न करने में नृत्य का माध्यम अपनाते थे। भगवान शिव को प्रसन्न करने के लिए रावण ने भी नृत्य किया था।

महाभारतकाल में तो नृत्य और नाट्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कृष्ण की रासलीला एक नृत्य ही है। यह इतनी अधिक प्रसिद्ध हुई कि इसके साथ आध्यात्मिकता भी जोड़ दी गई। वैसे देखा जाये तो महाभारतकाल में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पूरा नृत्य और संगीत के साथ दिखाई गई है। पांडव कथा में अर्जुन को अपने वनवास काल में नृत्य सीखते बताया गया है। अर्जुन राजा विराट के यहां उनकी पुत्री को नृत्य और नाट्य दोनों सिखाते थे। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण हरिवंश पुराण में मिलते हैं। नृत्य के संदर्भ में चित्रलेखा, उर्वशी, हेमा, रंभा, मेनका, केशी, तिलोत्मा आदि के नाम लिये जाते हैं। यह बात अलग है कि पौराणिक इतिहास में सभी कलाओं का संदर्भ मिलता है।

भगवान महावीर और गौतम दोनों का जन्म 600 ईसा पूर्व माना जाता है। इसके शिष्य पूरे देश में अपने धर्म का प्रचार–प्रसार करने के लिए जाते थे। जैन धर्म में समाज के सभी वर्गों के लिए माने जाते हैं। उनमें कोई विभेद नहीं होता, इसलिए सामान्य लोक में कलाओं के सामान्य रूप भी मिलते हैं, परन्तु नारियों की भागीदारी केवल धार्मिक अवसरों पर ही मिलती है। ऐसा ही बौद्धों की परम्परा में मिलता है। जैन और बौद्ध दोनों ही सत्य और मोक्ष के लिए इन कलाओं को अपनाते हैं, क्योंकि इनसे जन समाज को जुटाने में सहायता मिलती थी।

बौद्ध ग्रंथों में ललित विस्तार की चर्चा विशेष की जाती है। जैन और बौद्ध काल में चित्रकला और मूर्तिकला के साथ–साथ नृत्यों का विकास हुआ। इनके धार्मिक मंदिरों तथा विहारों में महात्मा बुद्ध और महावीर की अनेक मूर्तियां विभिन्न शताब्दियों में लगाई गई। उपासना करते समय विभिन्न धर्मों में बलि की प्रथा थी। जो इस काल में क्रमशः कम हुई। यद्यपि दो आराध्यों को धूमिल करने के लिए शंकराचार्य का योगदान विशेष माना जाता है। बौद्ध धर्म को शंकराचार्य के प्रयासों से बड़ा झटका लगा और वह सरकते–सरकते भारतवर्ष से बाहर हो गया। आश्चर्य की बात यह है कि नंदी को शिव का वाहन माना जाता है, वह बौद्धों के साथ ही जुड़ा हुआ था। इसका मुख्य उद्देश्य कृषि से जुड़े लोगों को आकृष्ट करने का था। इसको इतना महत्व मिल चुका था कि ब्राह्मणों ने नंदी की महिमा कम करने के लिए शिवलिंग की स्थापना शुरू कर दी। जहां–जहां मंदिर बनाये जाते थे, वहां–वहां नृत्यांगनाओं की कल्पना मूर्तियों में की जाती थी। क्रमशः मूर्तिकला में और विकास हुआ।

नृत्य का संबंध देवदासियों से विशेष है। ये समस्त मंदिर की जिम्मेदारी लेकर ईश्वर की पूजा करती थी और जनसमाज को प्रसाद बांटती थीं। देवदासी प्रथा के अनुरूप भावनाओं और विभिन्न भावों का प्रदर्शन अपने ईश्वर के प्रति करती थीं। शिव के साथ तांडव नृत्य और पार्वती के साथ लास्य नृत्य जुड़े हुए हैं। ताण्डव की कथा इस प्रकार है – पुराणों में कहा गया है कि करीब 10000 ऋषि एक जंगल में रहते थे। उन्होंने बहुत काल तक तपस्या की। उनकी इस तपस्या से आध्यात्मिक शक्ति इतनी बढ़ गई कि वे स्वयं को सबसे श्रेष्ठ मानने लगे। भगवान शिव और विष्णु इनसे ईर्ष्या करने लगे। अतः उन्होंने इनका तप खण्डित करने के लिए कामदेव को भेजा। भगवान शिव ने एक साधु का रूप धारण किया और विष्णु एक सुन्दर स्त्री बन गये। दोनों पुरुष और स्त्री के रूप में ऋषियों के आसपास ही रहने लगे।

दोनों की सुन्दरता और शक्ति की चर्चा ऋषियों के बीच होने लगी। उनका मन डॉवाडोल हो गया। जब ऋषियों को पता चला कि ये छद्म वेशधारी कोई और है तो उन्होंने इनको श्राप दिया। पर उनके श्राप का कोई प्रभाव नहीं हुआ। तब यज्ञ करके उन्होंने पूजा की और परमात्मा से वरदान प्राप्त किया। ऋषियों ने एक ओर यज्ञ किया, जिससे एक छोटा राक्षस पैरा किया। इसके द्वारा वे साधु और उसकी स्त्री को नष्ट कराना चाहते थे। भगवान शंकर ने अपना स्वरूप छोड़कर राक्षस के शरीर पर नृत्य किया, यह ही तांडव नृत्य कहलाया। यह नृत्य बहुत जनप्रिय हुआ, क्योंकि इसमें शक्ति, उपसर्ग, भय, घृणा, सहनशीलता, चेतावनी और क्रोध का प्रतिनिधित्व है। भगवान शिव इसके जनक हैं।

लास्य नृतय की जनक पार्वती मानी जाती हैं। यह पार्वती की तपस्या के बाद शिव को आकर्षित करने के लिए किया गया था। पार्वती लगातार तपस्या कर रही थीं, परन्तु उनके सामने शिव प्रकट न होकर ब्राह्मण के रूप में सौम्यता के साथ पार्वती को तप छोड़ने की सलाह दी। पर पार्वती ने अपने व्रत को तब तक जारी रखा, जब तक शिव स्वयं अपने रूप में प्रकट नहीं हो गये। विवाह के बाद शिव को प्रसन्न करने के लिए पार्वती ने लास्य नृतय किया था। शिव नटराज के रूप में मुख्य माने जाते हैं और पार्वती शक्ति के रूप में स्वीकार की जाती हैं। दोनों के बीच में मुख्य समस्या काम के शमन की है। जैसे ही काम शमित होता है, मोह, लोभ आदि शांत हो जाते हैं, इसलिए लास्य के अंत में यह बताया जाता है कि शिव और शक्ति एक शिशु पर नृत्य करते दिखाई देते हैं। ताण्डव और लास्य वास्तव में जगत के विकास का लक्षण भी प्रस्तुत करते हैं। लोक में इसे व्यापकता से स्वीकार किया गया, परन्तु शताब्दियों में इसका रूप लोक में बदलता गया। विभिन्न कथाओं के साथ मिलकर यह नृत्य भिन्न–भिन्न रूपों में प्रस्तुत किया गया।

लगभग 2400 वर्ष पहले तक्षशिला में एक ब्राह्मण का जन्म हुआ था जिसे उसके माता–पिता ने चाणक्य नाम दिया था। यही चाणक्य, चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु थे और उन्होंने मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी। चाणक्य का दूसरा नाम कौटिल्य है। इन्होंने अर्थशास्त्र नामक एक पुस्तक लिखी थी, इसमें तत्कालीन राजनीति के साथ–साथ सामाजिक जीवन का भी वर्णन किया गया है। समाज के कलाकार वर्ग की चर्चा अनेक प्रकार से की गई है। इसमें गायक, नर्तक और वाद्य बजाने वाले उन लोगों की चर्चा है जो अपनी कला से ही आजीविका कमाते थे। राज्य में ऐसे कलाकारों को शाही खजाने से वृत्ति मिलती थी। कौटिल्य ने यद्यपि इन कलाकारों को कृषि से दूर रखने की सलाह दी थी, क्योंकि ये काम से ध्यान बंटा देते हैं और इसमें उपज की कमी हो जाती है।

भरत नाट्य शास्त्र के महान आचार्य माने जाते थे। इनके नाट्यशास्त्र में केवल अपने युग की ललित कलाओं, नाट्य, काव्य आदि का वर्णन इस रूप में किया गया है कि वह सार्वकालिक और सार्वजनिक हो गया है। ऐसा माना जाता है कि ब्रह्मा ने देवताओं को प्रेरित और आल्हादित करने के लिए भरतमुनि से नाट्य शास्त्र लिखने को कहा था। भरत का उल्लेख कालिदास ओर भवभूति जैसे संस्कृत के कवियों ने अपने ग्रंथों में किया है। इनके सिवाय भरतमुनि की चर्चा अभिनव भारती (अभिनव गुप्त), अभिनव दर्पण (नंदीकेश्वर), दशरूप्क (धनंजय) ने भी की है। भरत मुनि का नाट्य शस्त्र निर्विवाद रूप में साहित्य और कलाओं के संदर्भ में आदि ग्रंथ है। इसको अनेक लोगों ने अपने–अपने तरीके से भाष्य करके प्रस्तुत किया है। नाट्यशास्त्र पर अनेक पुस्तकें लिखीं गई, जिनका आज भी संदर्भ दिया जाता है।

मध्ययुग के पूर्व ही तुर्कों और मुगलों ने उत्तर भारत में आना शुरू कर दिया था, प्रारम्भ में ये विदेशी विभिन्न मंदिरों और राज्यों को लूटने की दृष्टि से ही आते थे। बाद में यहां के

शासक बन बैठे। मंदिरों में पाई जाने वाली दासियां, देवदासियां सभी को उन्होंने अपना गुलाम बना दिया। देवदासी जो नृत्य करती थी, उसे वे मुजरा कहा करते थे। इस समय तक विभिन्न कलाओं की स्थिति बहुत ही दयनीय थी, यह दशा शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक बनी रही, इसके बाद मुगलकाल में युवतियों को ललित कलाओं की शिक्षा दी गई। मुसलमान लड़कियों को नृत्य कराते। इस समय तक मंच पर केवल मध्य भाग ही सजाया जाता था। सारंगी, मृदंग, तबला आदि बजाने वाले अपनी कमर में बांधते थे। मशालों के बीच में ये नृत्य सैनिकों के लिए किये जाते थे। इस काल में संगीतकारों, नर्तकों और नर्तकियों के निमित्त अनेक शर्तें लगा दी गई जो आज तक उसी रूप में अपनाई जाती हैं। नर्तकियां दो प्रकार से नृतय करती थीं, तबले के बोलों और परनों के आधार पर। गीत उच्चारित किया जाता था, दूसरा प्रकार विभिन्न भावनाओं और चेहरों पर दिये जाने वाले भावों के साथ नर्तकी स्वयं गाना गाती थी। यह ठुमरी या गज़ल कहलाता थां हिन्दू समाज में राधा–कृष्ण को आलंवन बनाकर संगीतकार नृत्य परक रासलीला कराते थे। जितने भी शास्त्रीय गीत हैं वे भातखंडे ने अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किये हैं। पुस्तक का नाम कानून राग था। जो 1874 में प्रकाशित हुई थी। नृत्य में वेशभूषा पर विशेष ध्यान दिया जाता था, इसके बाद आभूषणों का नंबर आता था। ध्यान देने की बात है कि कुलीन घरानों की लड़कियां और राजकुमारियां एक विशेष वेशभूषा धारण करतीं थीं, इसे पोशाक का नाम दिया जाता था। इसी से संगीतकारों के घराने की संज्ञा बनी।

औरंगजेब के बाद जब मुहम्मद शाह रंगीला दिल्ली के सिंहासन पर बैठा तो उसने पुनः नृत्य और संगीत को बढ़ावा दिया। उसने नृत्य और संगीत की नई–नई ईजाद कीं। ठुमरी, टप्पा, ख्याल, गज़ल आदि का सूत्रपात किया। नृत्य में नये भाव, चरण और अंग संचालन जोड़े

और उसे बहुत ही आकर्षक बनाया। कहा जाता है कि वाजिद अली शाह अवध का अंतिम राजा था। वह अपनी भौतिकवादी समृद्धि के लिये ही जाना जाता था। संगीत और नृत्य पर उसका विशेष चाव था। इन दोनों कलाओं को उसने विशेष रूप से प्रोत्साहित किया और व्यावहारिक तौर पर पुनर्जीवन दिया। इस समय के प्रसिद्ध लेखक मोहम्मद करम इमाम के अनुसार वाजिद अली शाह ने संगीत और नृत्य के सभी पक्षों पर महारत हासिल कर ली थी। उसके दरबार में अनेक कलाकारों को आजीविका मिली। वह स्वयं रासलीला में भाग लेता था। कृष्ण की भूमिका करते हुए गोपियों के साथ नृत्य करता था। इस समय ठुमरी और गज़ल गायकी शीर्ष पर रही।

मुगलकाल में संगीत और नृतय को पूरे देश में समर्थन मिला। प्रसिद्ध सूफी संत ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया, ख्वाजा मुयीनद्दीन चिस्ती, अजमेर, बाबा फरीद पाक पट्टन और शाहिद चान चराग, पावपनपिंग (पाकिस्तान) इस आंदोलन के कर्णधार हैं। इनकी जन्म की प्रशस्तियों में पूरे देश में कार्यक्रम किये जाते थे। इसमे देश और विदेश के भक्त शामिल होते थे। मशहूर गायक और नर्तकियां इन कार्यक्रमों को चार चॉद लगा देते थे। नृत्य के साथ मुजरा भी होते थे, भक्ति परक कब्बालियां भी होती थीं।

मुगल बादशाहों ने पहले कत्थक जैसे नृत्य को संरक्षण दिया था, परन्तु अंग्रेजों के आते ही इसे बहुत बड़ा झटका लगा, क्योंकि उन्होंने अपनी व्यवस्थायें स्वयं कीं और उसमें शासकीय आदेशों के तहत् नवाबों, राजाओं और जमींदारों आदि को शामिल होना पड़ता था। ब्रिटिशकाल में भारतीय नृत्य और संगीत को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। कलाकार केवल तीर्थ स्थानों या मंदिरों में अपनी प्रस्तुतियां करते थे। इसी प्रकार मुसलमानों के बीच सूफी मजारों पर विशेषकर

अजमेर शरीफ और पटना शरीफ में मजलिस लगाया करते थे, परन्तु इनके प्रदर्शन एक सीमित समाज तक ही रह गये।

आधुनिक काल में स्वतंत्रता के बाद भारत में अनेक अकादमियां बनाई गई। राज्यों में इनके केन्द्र स्थापित किये गये और सरकार की ओर से उन्हें संरक्षण मिला। नेशनल एकेडमी ऑफ डांस, म्यूजिक एण्ड ड्रामा, न्यू देहली ने पांच शास्त्रीय नृत्यों को मान्यता दी। (1) कत्थक, (2) कत्थककली, (3) भरत नाट्यम, (4) ओडिसी, (5) मणिपुरी। इनके महान आचार्य अब इन नृत्यों में संभवतः सुधार कर रहे हैं। शास्त्रीय नृत्यों के समानान्तर लोकनृत्यों की परम्परायें आदिकाल से चलती रही हैं। ये नृत्य पूर्णतः शास्त्रीय नहीं होते। इनमें प्रदेश विशेष के अनुरूप एक नैसर्गिक विशेषता होती है। जो दूसरे प्रदेशों से भिन्न है। लोकनृत्य को देखकर ही अपने आप कह उठते हैं कि यह अमुक प्रदेश का है।

नृत्य क्या है? संक्षेप में यह कहा जाता है कि नृत्य सुख और आनंद की अभिव्यक्ति है। जब एक व्यक्ति, प्राणी, पशु या पक्षी अत्यधिक सुख का अनुभव करता है और उससे शक्तिवान और उत्साही हो जाता है, तो उसका शरीर रोकने पर भी आनंद की प्रतीति हाथों, पैरों और चेहरे के भाव से कूदकर, उछाल भरके, डोलायमान होकर अथवा अन्य तरीकों से व्यक्त कर देता है। नृत्य तीन प्रकार के होते हैं – एक, दो व्यक्तियों का नृत्य, तीसरा सामूहिक नृत्य। जैसा कि इनका नाम है इसमें उतने ही व्यक्ति जुड़ जाते हैं। भारतीय संस्कृति में प्रत्येक जीवन का एक दर्शन होता है। मनुष्य की भावनायें विचार आदि का प्रदर्शन कुछ विशेष अवसरों पर अपने आप अथवा सायाश प्रस्तुत हो जाता है। विभिन्न आश्रयों में रहता हुआ व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। यहीं पर उसका सामाजिक जीवन, सांस्कृतिक जीवन से संस्पर्श पाता है और इसका मूर्तिमान रूप किसी बच्चे

"राई"

बुंदेलखंड का एक पारंपरिक लोक नृत्य

राई

बुंदेलखंड

का

लोक नृत्य

अभिनय भेषभूशा व श्रृंगार

लोक नृत्य राई का अभिनय

अभिनय वैसे तो चार प्रकार के माने जाते हैं

1. आहार्य अभिनय :–
2. आंगिक अभिनय :–
3. वाचिक्य अभिनय :–
4. सात्विक अभिनय :–

इन चार अभिनयों को अलग–अलग प्रकार की विद्याओं में अलग–अलग तरह से प्रयोग किया जाता है इन्हें जब हम लोक नृत्य में प्रिओंगें तो इनका हमें अलग ही रूप देखने को मिलेगा जिसका हम यहां पर संक्षेप में वर्णन करेंगे।

सर्व प्रथम हम राई के बारे में संक्षेप वर्णन करेंगे। लोक नृत्य राई पूरे बुंदेलखण्ड में 12 महिनों में ही बुंदेलखण्ड के सभी अंचलों में देखने को मिल जाता है यह नृत्य खुशी का प्रतीक है कोई भी खुशी के मौके पर इस नृत्य को पूरे बुंदेलखण्ड में किया जाता है। अब तो यह नृत्य बुंदेलखण्ड के अलावा देश के विभिन्न राज्यों में सरकार के द्वारा आयोजित उत्सवों में भी देखने को बहुत मिलता है। इस कला के अंदर ऐसी मोहनी है कि जो इसे एक बार देखता है तो इस नृत्य को बार–बार देखने की अभिलाषा उसके मन में बनी रहती है क्योंकि यह नृत्य है ही ऐसा इस नृत्य में जो पुरानी रूढ़िवादी कहावतें लोगों के द्वारा सुनी गई वह मंचों पर कहीं भी लेस मात्र (अश्लीलता) दिखाई नहीं देती। वैसे बुंदेलखण्ड के किन्हीं–किन्हीं क्षेत्रों में आज भी लोक नृत्य राई के प्रति लोगों की धारणायें आज भी गलत बनी हुई हैं। वही पुरानी रूढ़िवादी सोचे पनप रहीं है आज भी कई लोग इस नृत्य के प्रति गलत सोचे बनाये हुए हैं। जिनको दूर करना एक बहुत बड़ा कठिन कार्य है। वैसे

शहरों में इस लोक कला को अब सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा है और अन्य समाजें भी इस लोककला को धीरे–धीरे अपनाना प्रारंभ कर रही है। इस नृत्य को यदि गांव में करते हैं तो कोई भी अन्य समाज इस नृत्य को करने से आज भी बुंदेलखण्ड में कतराती हैं जबकि इसी नृत्य को यदि मंचों पर स्थान दिया जाता है तो अन्य समाजें इसे करने के लिए जरा भी नहीं झिझकती तो इस कला के प्रति धीरे–धीरे समाजों की सोंचे बदलती हुई नजर आ रही है। यदि सरकार इसके ऊपर थोड़ा सा ध्यान देती है तो इस नृत्य की अधिक से अधिक मंचीय प्रस्तुतियां कराई जाती है तो मुझे लगता है कि आने वाले समय में यह नृत्य सभी समाजों का नृत्य कहलाएगा न कि एक बेड़नी के द्वारा किया जाने वाला नृत्य कहलाएगा। क्योंकि मुझे अपने इस दो वर्षीय शोधकार्य के दौरान लोक नृत्य राई का एक दूसरा रूप देखने को मिला हैं मुझे लगता है कि बुंदेलखण्ड की सीमा उत्तर प्रदेश से लगी हुई है और उत्तर प्रदेश के वृंदावन में भगवान श्री कृष्ण ने द्वापर में रास नृत्य किया था। उसी का दूसरा रूप राई में देखने को मिलता है। शोधकार्य के दौरान लोगों से यह जानकारी प्राप्त हुई है कि भगवान श्री कृष्ण द्वारा द्वापर में किया गया रास नृत्य का हीदूसरा स्वरूप लोक नृत्य राई है। द्वापर में इसे रास नाम से जाना जाता था धीरे–धीरे समय परिवर्तन के साथ–साथ रास नृत्य की जगह राई नृत्य ने ले ली होगी और लोगों ने इसे अपने मनोरंजन का साधन बना लिया होगा। क्योंकि लोक नृत्य राई में जो नृत्य देखने को मिलता है उसका स्वरूप रास नृत्य के समान ही दिखाई पड़ता है और इस नृत्य में अधिकतर भगवान श्री कृष्ण की लीलाओं के ही गीत गाए जाते हैं तो इससे लगता है कि द्वापर युग के बाद जब धीरे–धीरे समय परिवर्तन होता चला गया तो यह नृत्य वृंदावन से होते हुए धीरे–धीरे बुंदेलखण्ड में प्रवेश किया होगा और इसका नाम रास की जगह राई पड़ गया होगा।लेकिन रास नृत्य को लोकनर्तनी का रूप गॉव के लोगो को

अधिक भाता है।गोपिया समूह में राधा के साथ साथ पद चालन और हस्त चालन करती है वे कृष्ण के चारो ओर एक घेरा बनाकर पहले समपर नृत्य करती है बाद में धीरे धीरे द्वति की स्थति आ जाती है मुख और हस्त चालन के मेल में कई मुद्रओ की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार राई में भी कई मुद्राओ की अभिव्यक्ति होती है और जिस प्रकार गोपिया कृष्ण को चारो ओर एक घेरा बनाकर नृत्य करती है उसी प्रकार राई में भी मृंदग बादक अपनी सोबत के कलाकारो से व नर्तकीयो के द्वारा घिरा रहकर नृत्य करता है जिससे जान पड़ता है की राई रहिस का ही दूसरा रूप है बस फर्क इतना रहता है कि रास में गोपियो की सख्या ज्यादा होती है और कृष्ण अकेले होते है उसी प्रकार राई में मृंदग बादक अकेला होता है और पुरूषो से घिरा हुआ होता है जिस प्रकार कृष्ण की बासुरी बजाते है और इतनी सारी गोपियों को रिझाते है और गोपिया अपनी मुद्रओ के द्वारा कृष्ण को बासुरी बजाने और नृत्य करने को मजबूर करती है उसी प्रकार मृंदग बादक को नृर्तकीया वा सोबत मृंदग बादक को अनेक ताल बजाने व नृत्य करने को मजबूर कर देते है तो यह नृत्य रास का रूप ले लेता है तो इस नृत्य को बेडनियों का नृत्य या अश्लील नृत्य कहना गलत होगा लोगों को इस नृत्य कला के प्रति अपनी सोचें बदलनी होगी क्योंकि कोई भी कला किसी जाति की नहीं होती यह सर्व समाज की कलाऐं हैं क्योंकि इन लोक कलाओं से सभी समाजों का मनोरंजन होता है। और मैनें देखा कि इस लोक नृत्य को अन्य समाजें भी अपना रही हैं तो सभी समाजों को इस कला के प्रति गंदी सोच बदलनी होगी नही तो आने वाले समय में धीरे–धीरे हमारी लोक कलाऐं खत्म हो जाएंगी वैसे भी अब लोक कलाओं के बहुत कम पारम्परिक कलाकार बचे हुए हैं। इस बदलते हुए युग में नई युवा पीढ़ी अपनी लोक कलाओं को भूलती जा रही है। अगर इसी तरह लोगों की सोचें इस

कला के प्रति नहीं बदलती हैं तो एक दिन यह लोक कला विलुप्त हो जाएगी और यह केवल कागजों में पढ़ने को ही मिल पाएगी।

लोक नृत्य राई में अभिनय

यह अभिनय मुख्य चार प्रकार के होते हैं अभिनय किसी पुरूष या स्त्री या अभिनेता के द्वारा किया जाने वाला वह कार्य है जिसके द्वारा किसी नृत्य या कला को दर्शाते है साधारणतया किसी भी कलाकार के माध्यम से किये जाने वाले अभिनय को मूल माना जाता है। जब किसी प्रसिद्ध कला या कलीपथ कथा के आधार पर कलाकार द्वारा पारम्परिक या रचित उन कलाओं के अनुसार सीखा या सिखाया जाता है या प्रस्तुत किया जाता है तो अपने शारीरिक चेष्ठा, भावभंगी या वाणी के द्वारा मुख्य मुद्रा, वेशभूषा के द्वारा दर्शकों को जब अपने अभिनय के माध्यम से भावों का अनुभव कराते हैं तब दर्शकों को रस की अनुभूति होती है। उसे सम्पूर्ण समन्वित का आनंद प्राप्त होता है। उसे अभिनय कहते हैं अभिनय का उद्देश्य यह होता है कि किसी पद या शब्द के भाव मुख्य अर्थ तक पहुंचा देना, अर्थात दर्शकों या सामाजिकों के हृदय में भाव या अर्थ से अभिभूत करना अर्थात अवस्था का अनुकरण ही अभिनय कहलाता है लोगों में अभिनय करने की प्रवृत्ति बचपन से ही मनुष्य में तथा अन्य अनेक जीवों में जन्मजात होती है। हाथ, पैर, आंख, मुंह, सिर चलाकर अपने भाव प्रकट करने की प्रवृत्ति सभ्य और असभ्य जातियों में समान रूप से पाई जाती हैं। उनके अनुकरण कृत्यों का एक उद्देश्य तो यह रहता है कि इससे उन्हें वास्तविक अनुभव जैसा आनंद मिलता है। और दूसरा यह कि इससे उन्हें दूसरों को अपना भाव बताने में सहायता मिलती है इसी दूसरे उद्देश्य के कारण शारीरिक या आंगिक चेष्ठाओं और मुख्य मुद्राओं का विकास हुआ जो जंगली जातियों में बोली हुई भाषा के

बदले या उसकी सहायक होकर अभिनय प्रयोग में आती हैं। जिन्हें हम आम भाषाओं में अभिनय कहते है।

आंगिक अभिनय

आंगिक अभिनय का अर्थ है। शरीर, मुख और चेष्ठाओं से कोई भाव या अर्थ प्रकट करना, सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और चरण द्वारा किया जानेवाला अभिनय उसे कहते हैं। जिसमें पूरे शरीर की विशेष चेष्ठा के द्वारा अभिनय किया जाता है। जैसे लोक नृत्य को

लोक नृत्य के माध्यम से दिखा कर अभिनय करना ये सभी प्रकार के अभिनय विशेष रस भाव तथा संचारी भाव के अनुसार किये जाते हैं। शरीर अथवा आंगिक अभिनय में सिर के तरह दृष्टि के छत्तीस, ऑख के तारों के नौ, पुट के नौ, भौहों के सात, कपोल के छह, अधर के छह और ठोढी के आठ अभिनय होते हैं। व्यापक रूप से मुखज चेष्ठाओं में अभिनय छह प्रकार के होते हैं। यदि लोक नृत्य में शारीरिक अभिनय जितना अधिक हो तो उससे अभिनय की शोभा दूनी हो जाती है। कहते हैं नृत्य में आंगिक अभिनय आंगिक अभिनय में तेरह प्रकार का सयुक्त हस्त अभिनय, चौबीस प्रकार का असंयुक्त हस्त अभिनय चौसठ प्रकार का नृत्य हस्त का अभिनय और चार प्रकार का हाथ के कारण का अभिनय

बताया गया है। इस के अतिरिक्त वक्ष के पॉच, पार्श्व के पॉच, उदर के तीन, कटि के पॉच, उरू के पॉच, जंघा के पॉच और पेट के पॉच प्रकार के अभिनय बताए गए हैं। भरत मुनि ने सोलह भूमिचारियों और सोलह आकाशचारियों का वर्णन करके दस आकाश मंडल और उस भोम मंडल के अभिनय का परिचय देते हुए गति के अभिनय का विस्तार से वर्णन किया है। कि किस भूमिका के व्यक्ति की मंच पर किस रस में कैसी गति होनी चाहिए, यह उदाहरण लोक नृत्य राई पर तो बिल्कुल उचित ठहरता है। जैसा कि आकाश का अभिनय घूमने से है उसी प्रकार लोक नृत्य राई पूरा का पूरा अभिनय नर्तकी के घूमने पर निश्चय करता है। कि नर्तकी को अभिनय किस गति से करना चाहिए जबकि इस नृत्य में नर्तकी को गति देने का कार्य मृदंग वादक करता है। इस अभिनय कौशल के लिए श्रेष्ठ मृदंग, ढोलक वादक को होना आवश्यक होता है। क्योंकि जितना मृदंग या ढोलक वादक कुशल होगा उतना ही सुंदर नृत्य नर्तकी के द्वारा किया जाएगा और नर्तकी इस नृत्य के माध्यम से अपने दर्शकों को अपनी ओर आकार्षित करने में सक्षम होती है। नर्तकी नृत्य के दम पर ही दर्शकों को नृत्य का रसपान कराती है। यह आंगिक अभिनय का श्रेष्ठ रूप माना जाता है।

वाचिक्य अभिनय

वाचिक्य अभिनय अधिकतर रंगमंच का होता है (नाटक) का अभिनय होता है। जबकि लोक नृत्य राई में वाचिक्य अभिनय कम देखने को मिलता है। जबकि लोक नृत्य राई में वाचिक्य की जगह गायक अभिनय अधिक होता है। और लोक नृत्य राई इसी अभिनय पर आश्रित रहता है। और इसी के दम पर नर्तकी को गति देने का कार्य करता है मृदंग या ढोलक वादक जो इस नृत्य को चार चॉद लगा देता है। और इस नृत्य को वायुमण्डल के अभिनय की उपाधि देना गलत नहीं होगा।

उदाहरण एक गीत, छुटकी आधी रैन,

छुटकी आधी रैन

वैरन जा सोत जुदईया

नर्तकी के द्वारा इस गीत के माध्यम से वायुमण्डल में अपनी छटा विखेर रहे चॉद की रोश्नी को अपनी सोत बता रही है। मेरा कहने का अर्थ यह है कि इस नृत्य का तात्पर्य वायुमण्ड से है यानि गायन अभिनय का सबसे बड़ा गुण है अपनी गायिकी से आरोह–अवरोह को इस प्रकार से साध्य कर गाना कि गाया हुआ एक–एक शब्द अपने भाव और प्रभाव को बनाये रखे गायन अभिनय की सबसे बड़ी

विशेषता यही है कि यदि कोई उसकी गायिकी सुनकर ही उसकी नृत्य मुद्रा की भावभंगिमा और आकांक्षा का ज्ञान दर्शक कर सकता है।

आहार्यअभिनय

आहार्य अभिनय यह वास्तव में अभिनय का अंग नहीं है। मगर इस बदलते युग में सभी कलाकार चाहे वह लोक कलाकार हो या लोक नाट्य या नाटक का कलाकार हो या अन्य किसी भी विद्या का कलाकार क्यों न हो अपनी मुख सज्जा और रूप सज्जा करनी ही पड़ती है यह समुचा अभिनय आहार्य अभिनय प्रतीकात्मक ही है। मगर यह प्रतीक उस प्रकार के नहीं है जिस प्रकार के विदेशियों ने ग्रहण किये हैं। यह अभिनय हमारे देश के ग्रामीण अंचलों में मर्यादाओं से बंधा हुआ है इस अभिनय पर आज भी अधिकतर ध्यान नहीं दिया जाता है।

सात्विक अभिनय

यह अभिनय का लोक नृत्य राई में कहीं भी समावेश नहीं होता है अतः हम इसका यहां जिक्र नहीं करेगें।

वेशभूषा

बुंदेलखण्ड की वेशभूषा में हम देखते है कि यहां के लोग अधिकतर सर पर साफा, पगड़ी, अगोंछी, तोलिया या साफी का प्रयोग सिर ढकने के लिए अधिकतर करते हैं। वैसे पहनने के लिए धोती, कुर्ता, वण्डी, सलुका, फतूमी, कमीज, आदि पहनने का रिवाज है। मगर अब बुंदेलखण्ड में भी बहुत बदलाव आ चुका है और यहां के लोगों की भी वेशभूषा समय के साथ–साथ बदलती जा रही है।

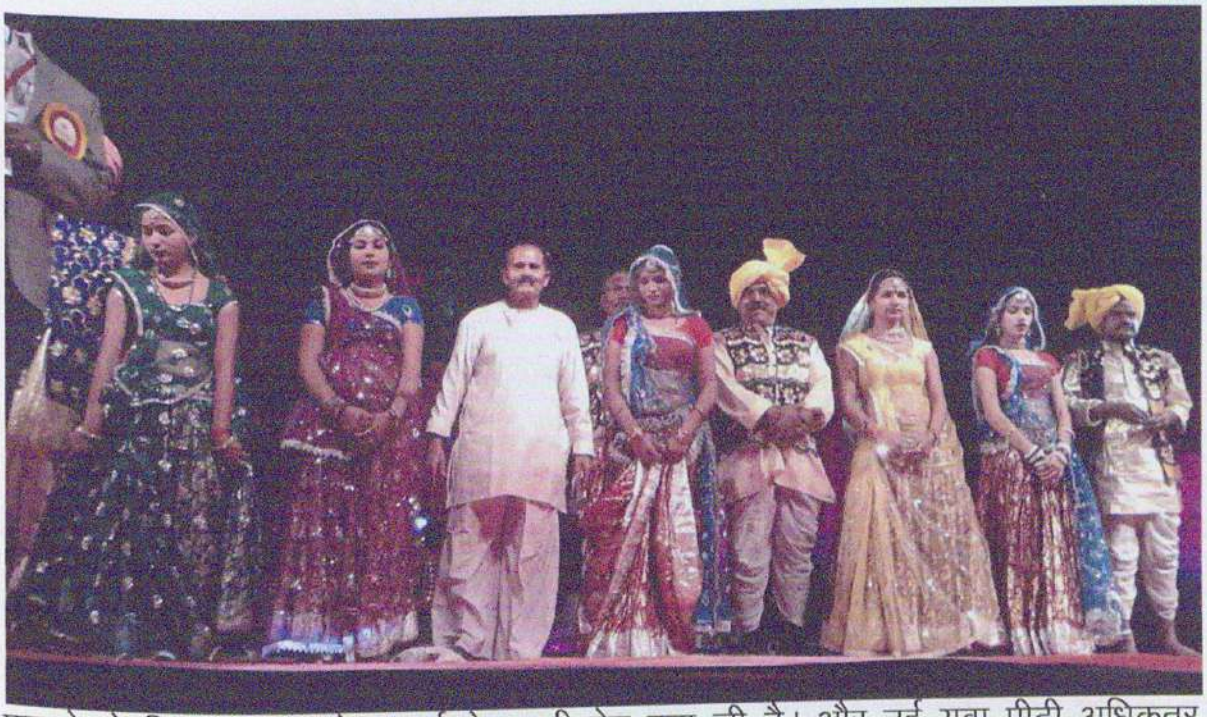

पहनने के लिए यहां पर पेन्ट शर्ट ने अपनी पेट बना ली है। और नई युवा पीढ़ी अधिकतर इसी वेशभूषा में दिखाई देने लगी है। पहले आम आदमी साधरणतः हाथ में लाठी, डण्डा या कुल्हाड़ी लेकर चलते थे पैरों में चर्रऊं (फिचऊॅ) पनईयॉ पहनते थे किन्तु अब प्लास्टिक के जूतों ने या अन्य जूतों ने यह स्थान ले लिया हैं। औरतें साड़ी ब्लाउज की जगह सलवार कुर्ता पहनने लगी हैं। बुंदेलखण्ड में पहले लोग आभूषण भी पहनते थे व महिलाएं सर से लेकर पॉव तक विभिन्न गहनों को पहनती थी जो पहले चलन में थे।

उनमें पैरों की उंगलियों में पहने जाने वाले अनौटा, चुटकी, छला, कटीला, गुच्छी, गैंदे, गुटिया और जोड़ूआ, गरगजी, पॉते, पावपोस, बांके, बिछिया आदि प्रमुख होते थे। उसी तरह पैरों के गहनों में अनोखा, कड़ा, गुजरिया, चूरा, छड़ा, छागल (पायल), छैल चूड़ी, झॉझे, टूडर, टोड़ा, पायजेव, बाजना, तथा लच्छा आदि गहने पॉव में पहनती थी। कमर में करधौनी, बिछुआ, डोरा, कमरपेटी आदि पहनने का रिवाज था। हाथों की उंगलियों में मुंदरी, अंगूठी, छल्ला पहनने का रिवाज था हाथों में कोचा, कंकन, कंगन, कोचियें, कड़ा, गजरा, चुरिया, चूरा, बेल चूरी, लाखें आदि पहनने की रिवाज थी। हाथों में कोहनी के ऊपर बाजूबंध, बाकें आदि पहनने का रिवाज था। गले में कठला, खॅगौरिया, चन्द्राहार, टकार, ठुसी, दिदाना, मंगलसूत्र, हार, हसली आदि पहनने का रिवाज था। कान में ऐरन, कनफूल, कुण्डल, झुमका, झुमकी, वाला, वारी आदि पहनी जाती थी। नाक में नथ, नथुनिया, पुंगरिया, नकमोती, बुलाख आदि पहनने की परम्परा थी। माथे को भी खाली नहीं छोड़ा जाता था। माथे पर बूंदा, बिंदी, बेंदी, टीका, टिकली, रोली लगाने का रिवाज था। सिर के ऊपर के आभूषणों में बैंदा, शीशफूल, मांगफूल, चुटिया, छैल रिजोनी तथा बैढ़ीफूल लगाए जाते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक अंचल में अलग–अलग वेशभूषाऐं परम्पराओं से चली आ रहीं हैं। मगर इस बदलते हुए युग में हमारी लोक संस्कृति दिनों दिन खतम होती चली जा रही है।

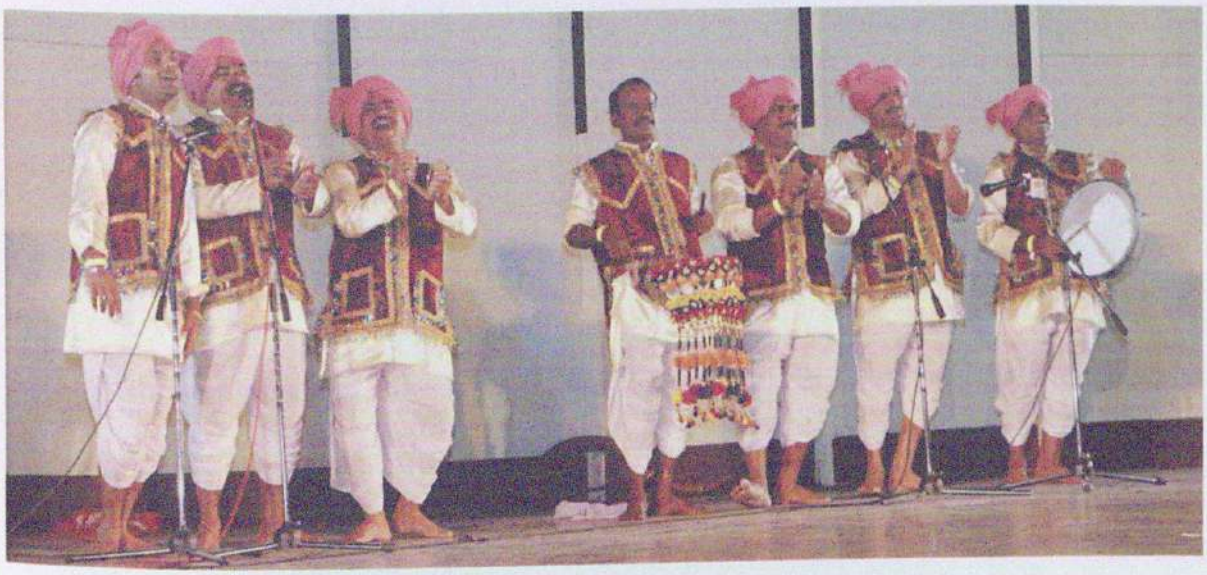

लोक नृत्य राई में पुरूषों की वेशभूषा :–लोक नृत्य राई के दौरान राई मण्डली सम्मिलत होने वाले पुरूष धोती कुर्ता, जाकिट सर पर साफा रंग बिरंगी पोषाक पहने अपनी मण्डली के साथ गांव की चौपाल पर एकत्रित होकर लोक नृत्य राई का शुभारंभ करते हैं। लोक नृत्य राई में गायिक मण्डली द्वारा सर्व प्रथम देवी देवताओं का स्मरण लोक गायिकी के द्वारा किया जाता है। जिसे वह अपनी भाषा में सुमरनी कहते हैं। इस सुमरनी गीत में सुर की देवी मॉ शारदा को सर्व प्रथम सुमरते हैं उसके वाद गांव के सभी देवी देवताओं को अपनी गायिकी के द्वारा उनका आव्हान करते हैं। जिस समय मण्डली द्वारा आव्हान और सुमरनी की जाती है सुमरनी में ही नर्तकी अपना पूर्ण श्रृंगार कर ठुमकती हुई सोबत मण्डली की ओर चली आती है। जब नर्तकी सोबत की ओर आती है तो लोगों की आहें निकलती हैं। और अपने शोर के द्वारा नर्तकियों का स्वागत करते हैं नर्तकियों की वेशभूषा व श्रृंगार को देखकर लोगबाग पूरी रात उनकी सुंदरता की झलक पाने की लालसा में पूरी रात गुजार देते हैं। उनको ये मालूम तक नहीं चलता कि कब सुबह हो गई जैसा की कहते है नर्तकी (बेड़नी) जब राई नृत्य करने को सौबत में आती है तो नर्तकी सोने चांदी के आभूषणों से सज धज कर जब दर्शकों के सामने आती है तो अपने सौन्दर्य को प्रसंसा को भापती हुई और अपने यौवन में डूबी हुई मद मस्त ठुमकती हुई जब आती है तो दर्शकों

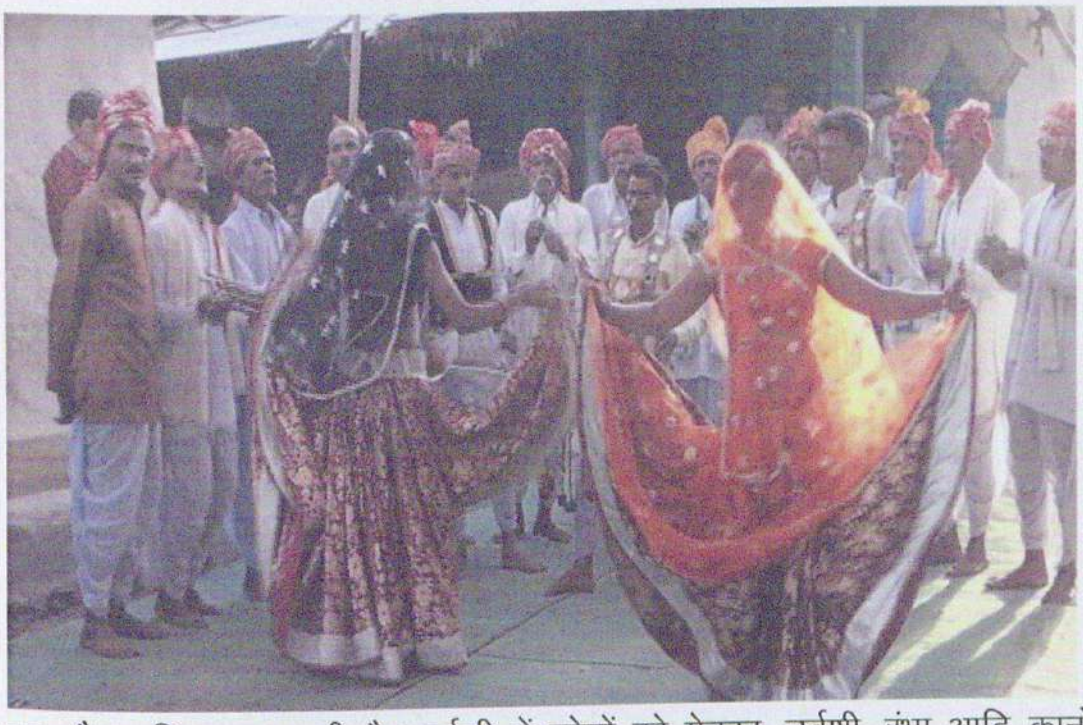

की लालसा और अधिक बढ़ जाती है। नर्तकी में लोगों को मेनका, उर्वशी, रंभा आदि कानों की ओर बढ़ती काजल, सुरमा की पतली कोर नाक में नथ या पुंगरिया अधरों पर पान की लाली रचाए(मुंह में पान का बीड़ा) होंठों पर लिपिस्टक कानों में कर्ण फूल या झाला गले में तिदाना माला कलाईयों में बांके, गजरा, चूड़िया हाथों में सोने चांदी की मुंदरिया, कमर में चांदी की 9 लर की करधौनी और पांव में चौरासी (घुंघरू) जिनका वजन लगभग दोनों पैरों के घुंघरूओं का लगभग 3 किलो होता है। कमर में चूड़ीदार पजामा उसके ऊपर लगभग सौ चुन्नटों वाला लंहगा यह साटन या सिल्क का होता है। चमकती हुई चोली यह रेशम या मखमल की होती है। और ऊपर से रंगीन रेशमी ओढ़नी जो नर्तकी को सर से लेकर पैरों तक ढक लेती है। उस चमकती हुई रेशमी ओढ़नी में से नर्तकी का चेहरा मशाल के उजाले में दमकता हुआ दिखाई पड़ता था। (पहले यही चलन था अब इसके विपरीत नर्तकियों के गहने पहनना खत्म हो चुके हैं। केवल कमर में करधौनी मात्र दिखाई पढ़ती है और गले में तिदाना और इसके साथ–साथ नए–नए परफ्यूमों का इस्तेमाल होने लगा है। पहले नर्तकियां इतनी सजी धजी जब सौबत में आती थी) तो उन्हें सभी स्त्री पुरूष एक

टुक देखते रह जाते थे। और उनकी निगाहें वहीं ठहरी रहती थी। (नर्तकी को पहले अपने श्रृंगार करने में उसे रूचि होती थी)

कुशल नर्तकी (बेड़नी) का मुख घूंघट से ढका रहता है इसलिए कि दर्शक मुख की सुंदरता पर न रीझ कर कला की बारिकियों को परखे जिससे दर्शकों के मन में जिज्ञासा का सागर उमड़ता रहे। नर्तकी के हाथ में फैराता हुआ एक रूमाल भले ही मध्य काल की देन हो पर नर्तकी का अभिव्यक्ति में सदैव कियाशील बना रहता है। घूंघट और रूमाल दोनों मुगल काल की सौगात है। और इस लोक नृत्य के अनिवार्य अंग बन गए थे। पर अब मुख से घुंघट हट गया है। और मुख में अंकित भाव की अभिव्यक्ति के लिए रास्ता खुल गया है। भारतीय नृत्यों मुखाभिव्यक्ति का विशेष महत्व है मुगल काल में अपहरण के भय से भी घूंघट ढकना अनिवार्य सा हो गया था। वर्तमान में लोक नृत्यों निहित कलात्मक्ता का बड़ा और मुख से घूंघट हट गया है। पहले जब यह सजीधजी नर्तकिया सोबत (मंडली) में आकर अपना नृत्य प्ररंभ करती और नृत्य के दौरान जब लहगां फैलाकर गिरदी लेती (धूमती) है तो इन का लहगां जब धूमता है तो ऐसा लगता है जैसे पुरहन के पत्ते पर कमल खिलगया हो और आभूषण ऐसे दमकते थे जैसे इन पत्तो पर पानी के मोती चमक रहे हो इस लिए लोक नृत्य राई को अंगिकाभिनय प्रधान नृत्य कहना गलत नही होगा। जब नर्तकी धूमती है तो कुछ लोग राई को मथनी की तरह बेड़नी के नाचने से राई नृत्य की संज्ञा देते है।कहते है जब महिलाओं के द्वारा दही को मथानी के द्वारा मथा जाता है तो महिलाऐ मथनी को जैसे नचाती है उसी प्रकार बुन्देली जीवन में राई यानी मथानी की तरह बेड़नी के नाचने को राई नृत्य की संज्ञा देते है।

नृत्य मुद्राएँ

राई नृत्य के प्रारंम्भ में सुमरनी द्वारा देवी देवताओ का आवहन करने के बाद में गीत पक्ति या तो बेड़नी उठाती है या गायक दल में से कोई गायक फिर नृत्य शुरू करते समय नृत्यकी वाघों का स्पर्स कर माथे से लगाती है और नृत्य में ठुमकी ,चकरी , गिरदी उडान , बैठकी , कोण , मोरचाल , मोरघुसन , झटका , ढडकचका और ताल मेल मुद्राऐ प्रमुख है ।

ठुमकी– का अर्थ है पैरो की ठुमक से घुघरूओ का खनकना

मृदंग की गुमकी (गूज) पर चलते हुए बेड़िनी अपने लहंगे के दोनों और के छोर दोनो हाथों से पकड़कर कंधो के समानान्तर उठाती है । साथ ही गर्दन को तिरछी धुमाती हुई कमर के कूल्हे मट –काती है और ठुमक के साथ अपने पैरों की घनी घुँघरूओं की तीव्रगति से खनकाती है।

चकरी

जिस तरह चकरी घूमती है उसी तरह चक्राकार बेड़िनी भी घूमती है साथ ही वह अपने दोनों हाथें को उपर उठाकर खड़े किये रहती है उस एक ही स्थान पर ताल की गति पर गोलाकार घूमता पड़ता है।

गिरदी

मृदंग की ताल पर लहंगा उड़ाते पूरी गति के साथ घूमना नृत्य प्रांगण के बीचों–बीच हाथो को सर्पीली लहरियॉ देना और मथानी की तरह घुमाना लेना जिससे लहंगा की घूम उठ जाती है।

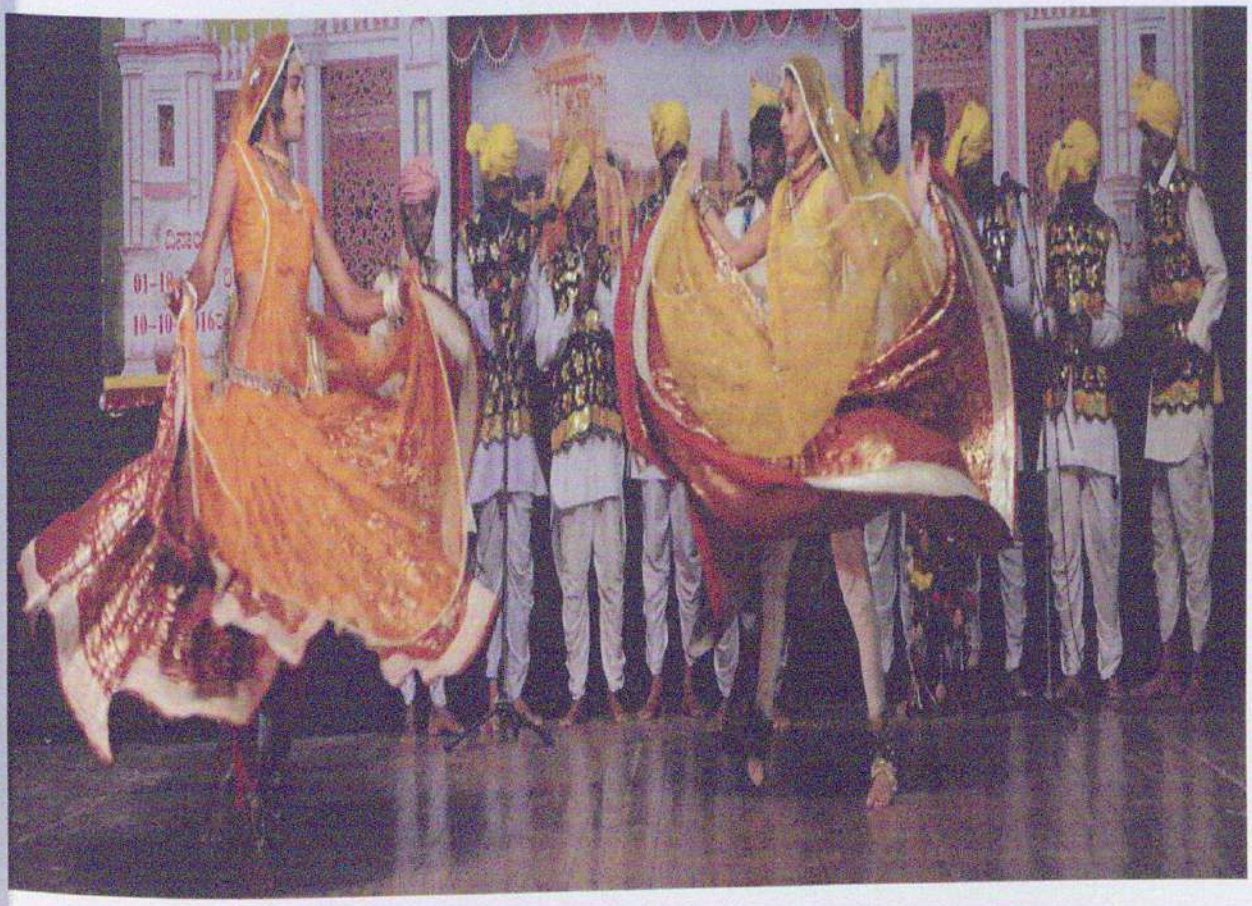

उड़ान

उड़ान में बेड़िनी बाघों की ताल पर मोरपंखो की तरह हाथों को फैलाकर झुलाती है और लंहगे को दोनो छोरो को पकड़कर गर्दन घुमाती हुई मोर की चाल चलकर पूरा मैदा थिरक लेती है।

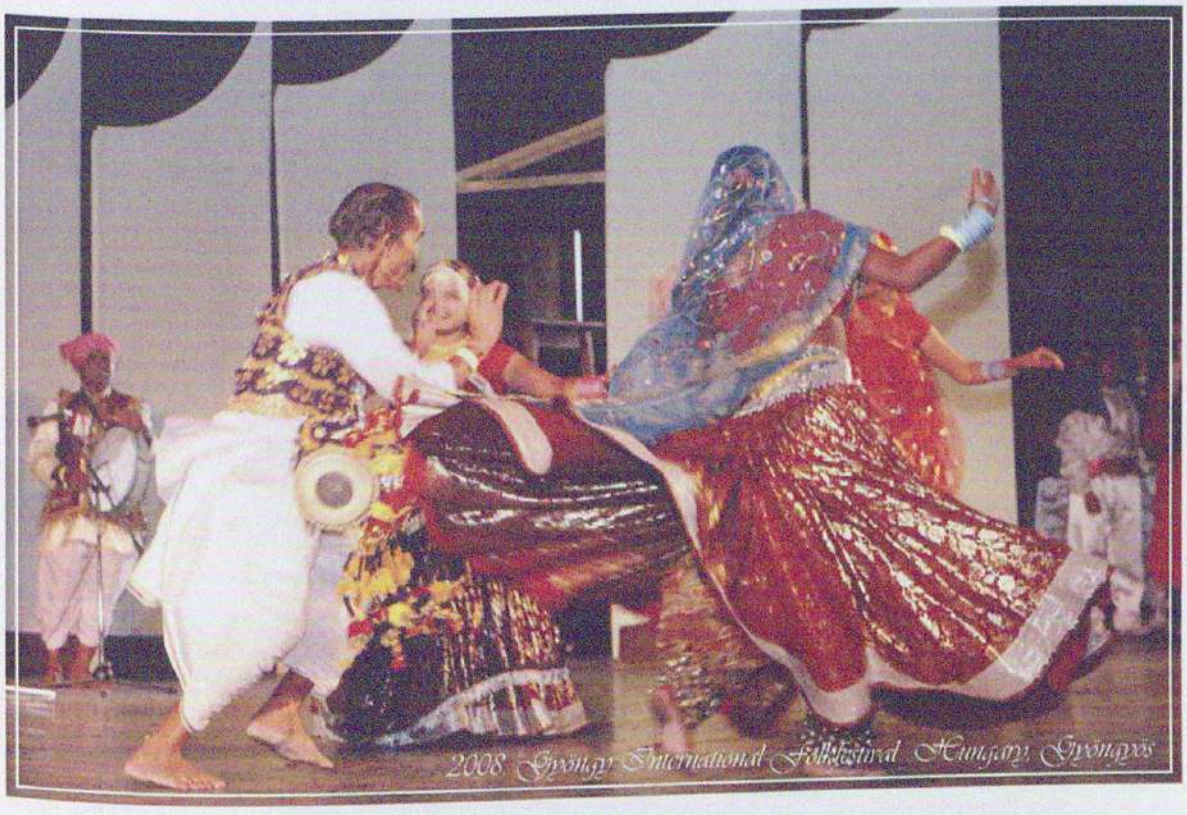

बैठकी

बेड़िनी मृदंगवादक दोनो ही पंजों के बल उकई बैठकर छलांगे भरते है ओर आगे–पीछे चलते है।इस बैठकी में सौबत के सभी सदस्य भी बैठ जाते है।बेड़िनी मृदंगिया की पीछे ठेलती है तो कभी मृदंगिया बेड़िनी को। इस मुद्रा में दोनों को ही सतर्क होना पड़ता है।कभी–कभी मृदंगिया पलटियॉ लगाकर बिच्छू सद्रश अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर बेड़िनी की धौस देकर चौकाता है।

कोण

बेड़िनी अपने लहंगे के दोनों छोरो की पकड़ कर बाज जैसा झपट्टा मारती एक और से जाकर मैदान घेर आती है। इसी कारण में मृदंगिया भी तेजी से गुमकियॉ देता हुआ जाता है।कोण बनाते समय कभी बेड़िनी आगे होती है तो कभी मृदंगिया । इस मुद्रा में द्रुत गति चापल्य वेग की उत्पत्ति होती है जो दर्शको को अवाक कर अपनी ओर मोह लेती है ।

मोरचाल

बेड़नी मृदंगवादक के सामने पलटकर कमान की तरह दूनर होकर घूँघटा से ढँका अपना सिर मृदंग पर रख देती है और दोनो हाथो से लहंगे के दोनो छोर कंधो के समानान्तर उठाती है। तथा मृदंगिया के ठुमकती हुई धीर धीर चलती है। मोर की मुद्रा वाला सुन्दर द्रश्य (आकृति) मन को बहुत लुभाता है।

मोर घुसन

एक ही जगह चौतरफा घूमती हुई बेड़िनी मुरेठी लगाकर पलटती है और बार–बार रस्सी की तरह ऐंठती है गर्दन का इसमें विशेष घुमाव होता है। जो अत्यंत मनभावन होता है। राई नृत्य कला में यह मुद्रा अत्यंत कठिन है।

झटका

झटको के साथ पैरो का पटकना और उसी केसाथ आगे और फिर पीछे की ओर हटना। कमर और गर्दन को अदाओ के साथ कॅपाना तथा हाथ में लिए हुए रूमाल को झुलाना पड़ता है।इस ताल मूं घूघरूओ की तेज खनक और लय बहुत सुहावनी लगती है।

ढड़कचका

नृत्य करते हुए बेड़िनी और मृदंगिया का एक साथ धरती पर बैठना।धीरे–धीरे अपने दोनों पैरो को सीधा करके फैलाना। बल खाते हुए धीरे–धीरे लेट जाना लेटे–लेटे बिना हाथो के सहारे सरकना। चारों ओर करवटें लेनए। कुलाटें लेना और झटके के साथ उठने के लिए सतर्क रहना पड़ता है। इस मुद्रा में मृदंगिया प्रधान होता है इसी के इशारे पर बेड़िनी नाचती रहती है।

तालमेल

मृदंगवादक और बेडिनी तीव्रगति में कदमों को एक साथ मिलाकर नाचते है।बदख की मुड़ी गर्दन जैसी मुद्रा में झुककर आगे पीछे बढ़ते हटते । कभी कभी इस मुद्रा में टिमकिया और ढपलया भी साथ देते है।

नर्तन और बादन की होड़

दरअसल, कला का उत्कर्ष नर्तन और वादन की होड़ में है।मृदंगिया या ढोलकिया पहले तस नृत्य की गतों का अनुसरण करता है,पर बाद में बेडिनी को छकाने की जीतोड़ कोशिश । इसी तरह बेड़िनी भी मृदंगिया को अपनी नृत्यकला से पराजित करने के लिए हर संभव उपाय करती है।अगर वह नृत्य केसाथ नहीं चल पाता,तो नर्तकी वादक की मृदंग पर अपना लहॅगा रख देती है।इस प्रतियोगिता के फैसले के लिए निर्णायक नहीं बैठते । वादक या तो स्वयं मान जाता है या दर्शक उसका समर्थन कर देते है।किसी विवाद की कोई गुंजाइश नही होती कला का मुल्यांकन दर्शक तक कर लेते है।एक अजीब बात घ्यान देने योग्य है।वह यह कि मशालची नर्तकी के मुख के सामने जलती मशाल लिए हमेशा रहता है उसके मुख का सौन्दर्य उजागर करने और अभिव्यक्तियों को प्रकाश में

लाने के लिए घूघूट का मुख साफ साफ कहता है कि उसे मत देखो ,उसकी कला को परखो।

.....

असल में, सारी गड़बड़ी चंचल मन से होती है।उसे वश में करना कठिन है।एक भजन में कहा गया है कि मन घोड़ा हो,तो उसे चाबुक मार कर और हाथी हो,तो अंकुश लगाकर नियंत्रित किया जाय। सोना हो,तो सुनार बुलाकर सुरत–निरत की फूँक से पानी की तरह पिघला लिया जाय और लोहा हो,तो लुहार बुलाकर भट्टटी में रखकर हथोडे की चोटो से लम्बा तार खिचवा लूँ। ज्ञानी मिले,तो ज्ञान बताकर सत्य के मार्ग पर ले चलें।आशय यह है कि सतंगुरू ही अपने ज्ञान से मन को सत् तक पहुँचा सकता है।बाधा है माया,जो ऋषियों–मुनियों और ब्रम्हा – विष्णु तक को नही छोड़ती। फिर साधारण आदमी की क्या हस्ती।

माया से बिलग होने में ही बैराग्य की भूमिका है सत् गुरू के ज्ञान से ही ईश्वर सैयॉ से मिलन संभव है विना आत्मज्ञान के सैयॉ की पहचान नही होती है। मिलन की दशा और उसके यतन में कई उदाहरण है पर चुनी हुई कुछ पंक्तिया प्रस्तुत है ।

मोय बता देव सॉची गुईयॉ मोय कब मिल है मोरे सैयॉ ।

मोरे पिया मोखो चीनत नईयॉ कौना की पकरो बैयॉ।

पानी में जैसे मीन प्यासी,सो गत मोरी हो रई गुंईयॉ ।

उँचे महिल अजब रंग बगला, सैया की सेज फूलन की गुंईयॉ।

सुरती समार पकर के पइयॉ, रहती सजन के संग मोरी गुइयॉ।

मोय बता देव सॉची गुईयॉ मोय कब मिल है मोरे सैयॉ ।

लोकभक्ति में भक्त नारी रूप में है और ईश्वर पुरूष रूप में, इसीलिए ईश्वर को सैयॉ (पति) कहा गया है। दूसरे उदाहरण में पानी के बीच रहकर मछली के प्यासे रहने को हास्य का कारण माना गया है, क्योंकि बिन आत्मज्ञान के (अपने को न जानने से) लोग तीर्थो में ईश्वर को खोजते है। जिस प्रकार मृग के नाभि में कस्तूरी है, पर वह उसकी खोज में बनों में फिरता है और न मिलने पर निराश होता है,और न मिलने पर निराश होता है, उसी प्रकार ईश्वर व्यक्ति की देह में ही रहता है और व्यक्ति उसे नहीं जानता । तीसरे में हंस रूपी जीव को रहस्य का भेंद बताकर लोककवि कहता है कि ब्रम्ह उॅचे महल में फूलो कीसेज पर विश्राम करता है। भक्त का तनम न धन सब समर्पित कर साजन के चरणो का स्पर्श करना जरूरी है। पूर्ण समर्पण ही मिलन का पहला सोपान है।

संयोग श्रृंगार

लोकविश्वास है कि मानव का जीवन क्षणभंगुर है, इसलिए उसे क्षणिक जीवन में सुखों का भोग कर लेना चाहिए। इस विश्वास को कई प्रकार से लोकगीतो में गया है। एक पक्ति का राई गीत है–हंसा कर ले किलोल, जाने कबे रे उड़ जाने । जिसमें हंस जीव का प्रतीक है और उसका उड़ जाना क्षणभंगुरता का । जीव के लिए किसी का कथन है कि उसे इस संसार में रहकर आनंदभरी क्रीडाएँ कर लेना चाहिए ,क्यों कि उसका जीवन अनिश्चित और नश्वर है।लोग में भी कुछ लोग भोगप्रधान लोकदर्शन के विचारों के पक्षपाती है,तभी तो लोकगीतों में लौकिक सुखों के भोग के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किया गया है।एक रसिया की कुछ पंक्तियॉ देखें–

हॅस खेल बतख कटि जाय बारे रसिया,
को कहॅ को रमि जाय बारे रसिया।
जैसे रंग पतंग रे रसिया, पतंग चलै उड़ जाय, बा रे रसिया
जैसे मोती ओस को रसिया,घाम परै ढरि जाय. बा रे रसिया
हॅस खेल बखत कटि जाय बारे रसिया।

उक्त पंक्तियों में पतंग के पवन में उड़ जाने और ओस के धूप में ढूलक जाने से जीवन का नाशवान होना सिद्ध किया गया ह और हॅस खेल कर आनंदमया क्रीडाओं से जीवन व्यतीत करने की सीख दी गयी है।

साहित्य का लोक नृत्य में योगदान

लोककथा में नायिका या सुंदर युवती का वर्णन भी काव्यात्मक होता है,
उसकी बानगी देखे–

बो कैसी लगत बारन बारन मोती गुहॅ सोरा सिंगार करै,
बारा आभूषण पेंने ,बिछिया अनोटा पैरं , सेंदुर सुरंग लगायें ,
मोतिन सें मॉग भरें केसर कस्तुरी को लेप करें, पान खायें
अतर लगायें लोंगन लायची को बटुआ कमर में खोंसे।
उको बदन कैसो लगत होरी कैसी झार ,
नैनू कैसो लोंदा ,पूनो कैसो चंदा
दिवारी कैसो दियाकनैर कैसी डार,
लफ कें दूनर हो जाय, गरे से पान की पीक दिखाय,
कंकड़ मारे से लोहू कढ़ आय, फुॅक मारा तो अकासै उड़ जाय
बीच में खेंचे से गाठ पड़ जाय पछारे से नागिन सी लिफट जाय ?
पलंग पै हिरा जाय तो बारा बरष ढूॅडै ना मिलै।

नायक का वर्णन तो ऐसा लगता है, जैसे कविता साकार होकर बैठ गयी हो, देखे–

गुलाब कैसो फूल चम्पा कैसो रंग, केर कैसो गाभो,
सूरज कैसी जोत सुआ कैसी नाक,
भौरा कैसे बार, सिर पे नरी का मंडील बॉधे,
बदन पै तीन खाव का अंगा अरू मिसरू का पैजामा पैरे ,
कमर में रेसमी फेंटा बॉधे जीमें चॉदी की मूठ का पेशकब्ज खुसो।
कान में दो बड़े बड़े मोती लगो बाला गरे में सूबेदारी कंठा ,
पॉवन में जड़ाउ तोड़ा पैरे हॉत में लफलफाती छड़ी
पॉवन में लडी के चर्राटेदार जूता पैरें।
मो में पान को बीड़ा चबायें छैल छबीला गबडू जवान।

आधुनिक लोकसंगीत

लोकसंगीत की वर्तमान स्थिति पर गंम्भीरता पूर्वक विचार करने से हम अक्सर इसलिए कतराते हे कि हमारे सामने कुछ ऐसे गुद्दे और प्रश्न खड़े हो जाते है जिनका उत्तर आसान नही होता । सबसे गंम्भीर चिन्ता यह है कि लोगसंगीत के प्रसार के लिए किये जा रहे सरकारी और गैरसरकारी महोत्सवों और कलाकारें के प्रोत्साहन के लिए घोषित बड़े बड़े पुरस्कारो के बावजूद हमारा लोकसंगीत अपनी जमीन से गायब होता जा रहा है। वर्षा ऋतु में गूँजने वाले आल्हा की गाथाओ के ओजस्वी स्वर, जब गॉव गॉव और घर घर नही सुनाई पड़ते । मकरसंक्रान्ति की अंचल भोर बिन रमटेरा गाये उदासी में डूबकी लगाकर चली जाती है और खेतो की बिलवारी उँघती रह जाती है।धीरे धीरे पेड़ गए, पेड़ो की शाखाओ पर झूमते झूले गए और उन झूलो के साथ झूला गीतो की लहरीयॉ भी चली गयी। आखिर क्यो गॉवो की चौपालो या अथाइयों पर अब लोगसंगीत के फड़ क्यों नही जमते ? लोकोत्सवो में मचलने वाली तानें अब कहॉ खो गयी इन प्रश्नों पर चर्चा करते समय केवल आधुनिक परिवेश को ही घ्यान में नही रखना बरन लोकसंगीत की प्रक्ति और उससे जुड़ी सामाजिक चेतना पर भी विचार करना है।

ऐसी परिस्थितियों को परखकर कोई विद्वान कह सकता है कि लोकसंगीत अस्ताचल की ओर जा रहा है । ऐसा उसे लगता है जबकि ऐसा है नहीं। लोकसंगीत का सूरज कभी नहीं ड़बता । वस्तुतः सारी गलतफहमी लोकसंगीत का आदिम समझने में है आदिम का अर्थ है मानव की आदिम स्थिति से चली आने वाली कभी न बदलने वाली और ज्यों की त्यो स्थिर रहने वाली वस्तु। समाल यह है कि क्या लोकसंगीत आदिम है या लोक के बदलाव के साथ खुद बदलती हुई ऐ गतिशील कला कि क्या लोकसंगीत आदिम है या

लोक के बदलाव के साथ खुद बदलती हुई एक गतिशीलन कला क्या उसमें किसी परिवर्तन या विकास की गुंजाइश नहीं है दरअसल लोकसाहित्य के लिए ऐसा फतवा नामीगरामी विद्वानो ने दे दिया है और उसका अनुसरण अधिकाश। आलोचक और पाठक अनजाने ही करते रहते है लेकिन क्यों शायद वे लोककलाओं के पीछे या आधार रूप में छिपे सोच को जरूरी नही मानते । में इससे सहमत नहीं हूँ कि लोक बदल जाये यानीकि लोकचेतना और लोक पद्धिति नयी हो जाए ,फिर भी लोककला या लोकसाहित्य न बदले । मै तो सभी लोककलाओं को गतिशील मानता हूँ। लोक और लोककला में परिवर्तन होना एक निश्चित प्रक्रिया है जो परिश्कृत कलाओ की तरह लोककलाओ मे भी प्रकृत्या घटित होती रहती है, फिर उससे लोकसंगीत कैसे बच सकता है।

बुदेलखण्ड के लोकसंगीत का इतिहास गवाह है कि उसमें लोक के परिवर्तन के साथ बदलाव आया है।आदिम कोरसों (समुह गीतो) के लोकसंगीत से आज के लोकसंगीत में काफी अंतर है। पुराने गुहाचित्रो में अंकित गायकों की मुद्रओं और लोकवाघो से यह अंदाज लगाया जा सकता है। 12 वी शदी में रचित आल्हा जैसे लोकमहाकाव्य से सिद्ध है कि ओजमयी गाथागायकी उत्कर्ष के चरमबिन्दु पर थी। वह धीर धीर महोबा से चलकर पूरे उत्तर भारत में फैली और महोबा ,सागर पुछी करगवॉ दतिया जैसे क्षेत्रो में विभिन्न गायन शैलियो का विकास हुआ इतना ही नहीं बैसवारी अवधी कन्नौजी, भोजपुरी आदि लोकभाषाओं में आल्हागायकी का रूप थोडा बहुत भिन्न है और आधुनिक काल में और भी परिवर्तन हुआ है। बहुचर्चित राई गायकी का उदाहरण लें। पुराने राई गीत में एक टेक और दोहा तथा इसी की आतृति रहती थी, फिर उसमें टेक के प्रथम अर्द्धश को दुहराकर शेषांश दूसरे चरण में गाने का प्रचलन हो गया और दोहा या साखी गायब हो गयी, लटकनिया या दुम ही प्रधान रही । इस करण गायकी में अंतर आ गया। एक अच्छा

उदाहरण है लोककवि ईसरी की चौकड़िया गायकी का पुरानी फागगायकी और आज की चौकड़िया गायकी में कितना फासला है, इसकी कल्पना गॉव के बूढ़े फागगायकों की गायनशैली से की जा सकती है।

इस तथ्य से सभी परिचित है। कि आज का लोक बदलने की स्थिति में है और इसी के कारण लोककलाओं के परिवर्तन की प्रकिया भी शुरू हो चुकी है। लोकसंगीत की धरोहर की सबसे अधिक जिम्मेदार नारी पारम्पारिक लोकगायकी से हटकर नयी– नयी धुनो का प्रयोग करने लगी है। गॉव का लोकसंगीत शहरी आकर्षणों से सम्मोहित होकर अपनी दिशा बदलने लगा है। ऐसे संक्रमण के समय यदि हम यह शिकायत करं कि लोकसंगीत का सूर्य ढल रहा है तो कतई उचित नहीं है। यह अवश्य निश्चित है कि पुराने लोकसंगीत के गर्भ से एक नये लोकसंगीत के जन्म की दिशा लग गयी है।

ऐसी परिस्थिति में सचेत कलाविद कलाकार और सहृदय के सामने दो समस्याएँ उभरती है एक तो लोकसंगीत की परिभाषा और खासतौर से उसकी सीमाओं की , क्योकि लोकसंगीत की अस्मिता के आहृत होने या विलुप्त हो जाने का खतरा सामने होता है और उससे बचने के लिए सीमाओं के आवर्द्धन या अभिवर्द्धन की जरूरत दिखाई पड़ती है। इसी समस्या के समाधान की खेज के लिए अक्सरी यह प्रश्न उठाया जाता है कि आज के परिवेश में लोकसंगीत को कैसे परिभाषित किया जाय। इस प्रश्न से एक प्रश्न और फूटता है कि क्या किसी विशेष संकट – काल में किसी कला की परिभाषा बदल जाती है। मेरी समझ में यह संभव नहीं होता । यह बात अलग है कि पहले की परिभाषा अपूर्ण रही हो तो उसे पुनः परखा जाय। लोकसंगीत की परिभाषा में व्याप्ति अधिक है । यदि हम उसे शब्दों से बाँधें ,तो कह सकते है कि लोकसंगीत लोक का वह सहज स्वच्छंद लोकोन्मुख संगीत है जो लोक द्वारा लोक के लिए गृहीत होता है। यदि इसे और स्पष्ट करें तो हर शब्द का अर्थ

समझना हो । लोक का आशाय गॉव और नगर दोनों के जनसामान्य से है।उसमें शिक्षित – अशिक्षित सभ्य असभ्य धार्मिक अधार्मिक निर्धन धनी सभी आते है जाति सम्प्रदाय,धर्म ,वर्ग, आदि से जुड़ा किसी भी तरह का भेदभाव नहीं रहता । लोक का संगीत का अर्थ यह है कि लोकसंगीत किसी स्चरकार में ही फूटता है चाहे उसका नाम ज्ञात रहे या अज्ञात । चौकड़िया गायकी के साथ लोककवि ईसुरी का नाम जुड़ा लेकिन चौकड़िया की धुनें हर क्षेत्र में अलग– अलग है और हर के साथ ईसुरी का नाम नहीं लिया जा सकता । इतना निश्चित है कि कोई समूह या लोक लोकधुन की रचना नहीं करता । लोकसंगीत इतना सहज होता है कि स्वतः स्फुट – सा प्रतीत होता है किसी भी कृत्रिम संरचना के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है । वह किसी भी नियम या बंधन से मुक्त स्वच्छंद होता है । लोकगायक को स्वर ताल और राग आदि के नियम नहीं सीखने पड़ते और न ही उनकी साधना करनी पड़ती है। कम से कम स्वरों का प्रयोग लोकसंगीत को सरल सहज बना देता है। इस कारण लोक उसे जल्दी अपना लेता है दूसरे उसमें लोकोन्मुखता की विशेषता होती है क्योकि वह नाद की अपेक्षा भाव को प्रधानता देता है और यही भाव उसे लोकोनमुख बनाता है। लोकसंगीत का भावप्रधान नादसौष्ठव उसे लोकजीवन से संबद्ध कर देता है बस्तुतः लोकसंगीत का सरोकार दैनिक जीवन ,कर्म और सामाजिक संबंधो से है इसलिए लोकधर्मिता उसकी प्रमुख चारित्रिक विशेषता है एक बात और है कि लोक द्वारा ग्रहण करने के बाद ही लोकसंगीत बनता है । यदि केवल लोकधुनो के आधार पर लोकसंगीता को मान्यता प्राप्त होती है तो सबसे पहली शर्त यह है कि गीत की धुन लोकप्रचलित हो एक स्वरकार की निजी सम्पत्ति नही।

इस विन्दु पर एक सवाल और उठता हे कि यदि लोकप्रचलित धुन में एक लोककवि अपना गीत रचता है,तो क्या वह लोकसंगीत के अंतर्गत आएगा। इस संदर्भ में यह सपष्ट है कि

लोककवि का रचा गीत तब तक लोकगीत कहलाने का अधिकारी नही होता ,जब तक उसे लोक न ग्रहण न कर लिया है । यदि वह लोक में प्रचलित नहीं है अर्थात लोकगीत नही है तो लोकसंगीत की लोकप्रचलन की शर्त को पूरी नहीं करता। दूसरे लोकसंगीत में जिस लोकभाव या लोकरस की प्रमुखता है,वह उस गीत में संदिग्ध है। लोकभाव की परिपूप्रता और लोकाभिव्यक्ति की गूणवत्ता से विभूषित होने पर वह लोकगीत की संज्ञा प्राप्त कर लेगा और लोकसंगीत में शामिल हो जाएगा। दरअसल लोकगीत और लोकसंगीत सहजन्में है,और बहुत कुछ सहधर्मी भी। लोकसंगीत पक्ष को छोड़ने पर कोई गीत लोकगीत नहीं हो सकता और लोकगीत न होने पर कोई गीत लोकसंगीत में सम्मिलित होने का अधिकार नहीं रखता।

कुछ विद्धान लाकसाहित्य या लोकगीत और लोकसंगीत में परम्परात्मकता को सबकुछ मानते है।उनके मत में पीढ़ी – दर– पीढ़ी चले आये गीत और धुनें ही लोकगीत और लोकधुन होते है।प्रयोग के लिए उनके लाकशास्त्र में कोई गुंजाइश नहीं । लेकिन लोकगायकी के इतिहास में ऐसे उदाहरण मौजूद है,जिनमें नये प्रयोगो को महत्व दिया गया है और वे प्रयोग ही आगे चलकर पारम्परिक बनकर अपना विशिष्ट अस्तित्व सुरक्षित रख सके है । चौकड़िया और राई गायकी के संबंध में पहले ही बताया जा चुका हे।सैर गायकी में एक नया प्रयोग ईसुरी के समकालीन सुकवि रामलाल पाण्डे और गंगाधर व्यास ने किया था और सैर की झूमकी शैली आज भी जीवित है । जिन गायनशैलियां में गतिशीलता नहीं है और नये प्रयोग जिन्हें क्रियाशील नहीं बनाते, वे धीरे धीने जड़ होकर विलुप्त हो जाती है। दूसरे जिस गायकी या गायनशैली का लोकजीवन से सम्बन्ध टूट जाता है वह पीले पत्ते की तरह झड़ जाती है ।उदाहरण के लिए ,चक्की से गायब हो जाने पर चक्की के गीत अब सुनाई नहीं पड़ते । इसी तरह ढोला – मारू, सुरहिन गउ जैसी गाथागायकी अब

विलुप्त होती जा रही है।तात्पर्य यह है कि लोकसंगीत में परम्परा और प्रयोग दोनों का उचित सामंजस्य आवश्यक है।न तो जड़ परम्परा हितकर है और न परम्पराहीन प्रयोग। लोकसंगीत को जीवित रखने के लिए लोकसंगीत की सही व्याख्या और उसके महत उद्देश्य को लोगो तक पहुँचाना आवश्यक है । कुछ लोग उसे बहुत हल्का समझते है जबकि संगीताचार्य ओंकारनाथ ठाकुर का विश्वास था कि लोकसंगीत के माध्यम से समस्त विश्व में मानवता ,आत्मीयता और ऐक्य की स्थापना की जा सकती है।यदि लोकसंगीत को राष्ट्रीय एकता और विश्व –बधुतव का साधन मानकर एक नयी गरिमा दी जाय तो वह एक नयी प्रतिष्ठा से मंडित होकर लोकप्रिय होगा । दूसरे लोकसंगीत की रचना और श्रोताओं पर उसके प्रभाव में कोई जाति ,वर्ग,सम्प्रदाय और वर्ण–गत भेद भाव नहीं है,इसलिए प्रजातंत्री भावनाओं के अनुरूप होने की वजह से लोकसंगीत को सम्मान की दृष्टि से देख जाना चाहिए। नयी समाज की संरचना में उसकी उपयोगिता निश्चित है इसलिए उसकी भागीदारी निर्धारित की जाना उचित है।इन आदर्शपरक आधारो से मेरा आशय कोई यूटोपियाई आभामण्डल खड़ा करना नहीं है,वरन् लोकजीवन और समाज में लोकसंगीत की आवश्यकता को महसूस करना है। राजनीतिज्ञ अच्छी तरह जानते है कि चुनावों के समय बुनावटी लोकगीत जैसे काउ की वातन नई आउनें ,मुहर पंजा पै लगाउनें– कितना प्रभाव छोड़ते है और समाज भी समझता है कि दहेज, परिवार – नियोजन या अन्य सामाजिक समस्याओं में लोकसंगीत कितना उपयोगी है।किसानों और मजदूरों को अनुभव है कि लोकसंगी श्रम में कितनी मदद करता है तथा दिन भर काम करने के बाद श्रम–परिहार में कितना महत्वपूर्ण है।समाजशास्त्री सामाजिक संबंधो और संस्कृति के वास्वविक प्रातिविम्बन में उसकी क्षमताओं से पूर्णतया परिचित है।अतएव समाज का हर वर्ग लोकसंगीत का उपयोग कभी–न–कभी करता है और गहराई से सोचने पर

उसे मानना पड़ेगा कि लोकजीवन के यथार्थ आदर्श और भावी निर्माण में लोकसंगीत की एक खास भूमिका है । इस दृष्टि से समाज की बहुत बड़ी जिम्मेदारी यह हे कि लोकसंगीत जीवित रहे और जीवन में एक आवश्यक अभिकरण के रूप में स्थायित्व पाए। कोई भी कला जितनी अधिक जीवन से जुड़ती है,उतनी ही दीर्घायु पाती है।इस तथ्य का ध्यान में रखकर लोकसंगीत का प्रसार उचित है।विराट महोत्सवो में विधुत की चकाचौध से भर और सही कलाकार उपेक्षा की आँख से दुखता है, कयोंकि वह वास्तविकता से काफी भिन्नता या दूरी पाता है।असल में ,सही अवसरों पर जैसे होली, दीवाली ,मकरसंक्रन्ति आदि पर सहज रूप में ही लोकोत्सवों का आयोजन होना चाहिए। यदि गाँव या नगर के सचेतन व्यक्ति या संस्था अथवा दल होली के अवसर पर लोकसंगीत की कई मंडलियॉ निकालते है और उन्हे प्रोत्साहित करते है,तो निश्चित ही उनका प्रभाव व्यापक होगा।मध्ययुग में बुंदेलखण्ड का अंचल अखाड़ो से भरा पड़ा था, उनका उल्लेख और वग्रन ग्रंथो में मिलता है। यह सही है कि ये अखाड़े नृत्य ,संगीत और गीत की प्रतियोगिताओं के लिए प्रसिद्ध थे।लोकसंगीत का भी अखाड़ा होता था।पन्नानरेश अमानसिंह के बहनोई प्रानसिंह ने अपनी गढ़ी में अखाड़ा किया था और बेड़िनी ने गाया था–सभासिंह की लली, सभासिंह की लली, खनुआखेड़ा न जीत अकोड़ी में डरी उनकी एकउ न चली..... जिसके परिणामस्वरूप अमानसिंह ने गढ़ी पर आक्रमण कर अपने बहनोई का सिर काटकर बहिन के आँचल में डाल दिया था । बुंदेलखण्ड के इतिहास की यह घटना इसी राछरे में छिपी है। अखाडो जैसी संस्थाए। इस युग में भी संगठित की जा सकती है।उस युग में राजाश्रयी और लोकाश्रयी दोनो तरह के अखाड़े थे। पर उनमें कला को ही सर्वोपरि महत्व था । आज लोगाश्रयी अखाड़े लोकसंगीत की केन्द्र बन सकते है अपनी क्रियाशीलता से इस लोककला में प्राण फुँक सकते है।

लोक को लोकसंगीत की सुरक्षा के लिए तैयार करना हमारा प्रमुख दायित्व है। वर्तमान ऐजेन्सियो – आकाश्वाणी और दूरदर्शन आदि का हम प्रदूषण के लिए कोसते है, पर उनमें भी हम प्रभावशनी हो सकते है।एक तो कलाकार सजग हो दूसरा श्रोता या दर्शक । ऐसी सचेतनता में ये एजेन्सियॉ सही माध्यम बन सकती है।विज्ञान द्वारा प्रदत्त सभी साधनों का उपयोग किया जा सकता हे और विद्वान योजनाबद्ध रूप में सर्वेक्षण संरक्षण शोध विश्लेषण आदि का कार्य कर सकते है।लोकगीतो का संकलन जितने महत्व का है उतना ही उनका पाठ–निर्धारण । अगर पाठ–निर्धारण नहीं होता ,तो कभी–कभी अर्थ का अनर्थ हो जाता है संकलनों में कभी –कभी कविताएँ या गीत सम्मिलित कर दिये जाते है या छद्म वेश में घुसपैठियों जैसे घुस आते है अथवा आकाशवाणी या टेपो सेप्रसारित किये जाते है,ऐसी स्थिति में पाठक श्रोता और विद्वान बर्ग की जागरूकता हस्तक्षेत लयों का अचेतन रूप में अनुसरण करते हुए लोकसंगीत को बने बनाये सॉचो में ढाल सकते है और उसे अपनी मौलिकता और स्वच्छंदता से वंचित कर स्वरलिपियों का दास बना सकते है।क्षेत्रगत विविधता की परवाह न करते हुए विभिन्न लोकगायको की भिन्न भिन्न स्वरलिपियों को नकारने एवं एक ही तरह की स्वरलिपि स्वीकारने से एक स्थैर्य आ जाता है,जिसे तोड़कर विकास– पथ पर लाना अनिवार्य है।

लोकसंगीत अतीत का इतिहास वर्तमान की वास्तविकता और भविष्य का आदर्श अपने में इस तरह संजोये रहता है जैसे कस्तूरी मृग अपनी नाभि में कस्तूरी । उस कस्तूरी की उपलब्धि मृग को जीवित रखने में है,उसे आखेट में मारने से नहीं । उसके लिए वही परिवेश वही जलवायु और वही जीवन जरूरी है,जो कस्तूरी बनाता है और समाज को अपनी गंध से संजीवनी देता है।समाज का कर्तव्य है कि वह ऐसे ही वनोघान खड़े करे।

लोकनृत्य राई की विशेषताए

1 लोकनृत्य राई के प्ररम्भ में सुमरनी(मंगला चरण) होती है।सभी कलाकार एक साथ निश्चित स्थान पर खड़े होकर देवीदेवताओ की स्तुती करते है।

2 लोकनृत्य राई साधारण जनसूह का केवल मनोरंजन ही नही करता बलकि जनजीवन का प्रतिबिम्ब भी है।

3 लोकनृत्य समय समय पर देश काल अनुरूप जीवन्त साहित्य की मौलिक प्रस्तुती से लोकजीवन को प्रस्तुत करता है।

4 लोकनृत्य विशाल जनसमुदय की भावनाओं और अनुभूतियों को प्रर्दशित करता है इसमें वैज्ञानिक विशलेषण की गुजाइश नही हेाती ।

5 ऐ लोककलाऐ अनौपचारिक आडम्बरहीन व साधारण मंच संज्जा के द्वारा ही जीवन की सहज व जीवन्त झाकी प्रस्तुत करते है।

6 लोकधर्मिता में ग्रामीण समाज की परम्पराएं ,भावनाए,आस्था,आदर्श संस्कृति रीति रिवाज ही परिलक्षित होते है।

7 सामाजिक प्रतिभा की उपज ये लोकनृत्य परिर्वनशील असंस्कृत पीछडे देहाती चकरित्र एवं आदर्श मर्यादाओ के पूर्व सौन्दर्यो को समेटे हुए होते है।

8 गेयता और नृत्य आदि की इनमें प्रधानता होती है।

9 लोकनृत्य क्षेत्रीय सास्कृतिक विरासत की झलक स्पस्ट दिखाई देती है।साथ ही इस में नर्तन गायन गीत आदि की यह चेतना हमें आघ्यातमिक की ओर ज्यादा इंग्ति करती है।

10 शस्त्रीय नृत्यो से भिन्नता ही लोकनृत्यों की मूलभूत विशेषता होती है।

11 लोकनृत्य परम्परागत रूप से जनपदो में अधिक प्रचिलित रहते है।

12 धार्मिक सामाजिक और सास्कृतिक उपस्थितियों के प्रतीक ये लोकनृत्य लोककलाए लोकरूणीयों एवं विश्वासों के करण शक्ती पाकर सबल हो उठते है।

13 इन लोक नृत्यों में अदभुत लचीला पन होतो है।और यह परिवर्तनशील होते है।

14 लोकनृत्य का मंच खुला अथव साधारण होता है।

15 लोकनृत्य के प्रदर्शन में रूणीया बनी हुई है।जिनका प्रयाः कही कही पालन होता है।

लोक नृत्य राई का स्थान व समय

लोकनृत्य राई का स्थान समय व कार्य की शास्त्रीय अन्वितियो से मुक्त रही है।इन लोककलाओ की गतिया नित्यमूलक अंगचेश्ठाए सहज रूपबन्ध सरल तथा अभिनय प्रखर–मुखर अतिरचनापूर्ण होती है। लोकनृत्य जनसाधारण का ही एक अंग है।जो उनके अवकाश के क्षणो में मनोरजन का साधान है ये किसी बर्ग या जाति की धरोहर नही होती है। लोकधर्मी रूणीयों की अनुकरणत्मक अभिव्यक्तियो का वह नृत्य रूप है जो अपने क्षेत्र के लोकमानस को अल्हादित उल्लासित और अनुप्राणित करता है।

यदि सहानुभूति के साथ इस विशाल साहित्य का या लोककला का अनुशीलन किया जाए तो इसमंच के झीने आवरण से हमारे लोकजीवन का सताब्दीयों का इतिहास झाकता हुआ दिखाई देगा । देश के विशाल जन –समूह की आशा आकाक्षां,विजय– पराजय, आचार – व्यौहार, साहस–संघर्ष आदि की जीवित कहानी मुखरित हो उठेगी। हमारी द्रष्टी से लोकनृत्य क्षेत्रीय लोकजीवन की आनंद गंगा में नहाता हुआ जीवंत रूप पाता है।

लोककला का प्रचार– प्रसार अभिजात धारा से विल्कुल अलग लोकनृत्य के रूप में होता है। इधर ग्रामीण क्षेत्रो में नगर की प्रवृत्तियों का प्रवेश धीरे धीरे अधिक कलात्मिकता समाहित होने लगी है। लोकनृत्य के सिद्धात का व्यौहारिक पक्ष लोकनृत्यों में ही पूर्णतः प्रकट होता है।शास्त्रीय नृत्यों में कीसी न कीसी रूप में जाति व्यबस्था का आग्रह अवश्य रहा है। जब की लोकनृत्यों में ऐसे किसी बंधन को नही स्वीकारा फिरभी सुदूर ग्रामीण अंचलो में कही –कही उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के दर्शको के बैठने का स्थान प्रथक निधार्रित रहता है।इस मसले को सार के रूप में देखने से कह सकते है। की लोकविधा को स्वरूप समय के अनुसार बदलता जा रहा है। जैसे लोक को परिभाषित करते हुए लोकशब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नही है। बल्की नगर वा गॉव में फैली हुई समूची जनता है जिसके व्यौहारिक ज्ञान का आधान पोथिया नही है ये नगर में परिष्कृत रूची सम्पन्न तथ

सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगो की अपेक्षा अधिक सरल तथा आकृतिम जीवन के अभ्यस्थ होते है और परिष्कृत रूचि वाले लोगो की समूची आलस्यता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी बस्तुए आवश्यक होती है उनको उत्पन्न करते है।

ड़ा नर्मदा प्रसाद गुप्त ने लिखा है–

अवधारणा और लोकसृजन में लोक का वर्णन करते हुए लिखा है कि लोक से तात्पर्य उस लोकमानस या लोकप्रवृत्ती से है, जो सहज और प्रकृत मानसिक वृततियो की पूजीभूत इकाईयो का रूप होता है सहज और प्राकृतिक का अर्थ आदिम ना होकर आजतक विधमान उस सर्वकालिक रूप से है जो भिन्न–भिन्न युगो की चेतना को आत्मसात करता हुआ भी उनके कृतिम प्रभाव से अछूता रहता है।

आदिम समाज में उसके सभी सदस्य लोक होते है और इस शब्द के विस्तृत अर्थ को लेलो तो सभ्य राष्ट की पूरी जनसंख्या को लोक की संज्ञा दी जा सकती है किन्तू सामान्य प्रयोग में पाश्चात्य प्रणाली में सभ्यता में लोकवार्त (फोक लोर) लोकसंगीत (फुल्क म्यूजिक) आदि शब्दों में लोक का अर्थ संकुचित होकर केवल उन्ही का ज्ञान कराता है जो नागरिक संस्कृति और टेक्नीकल शिक्षा से परे है, जो निरक्षर है अथवा जिन्हे मामोली साक्षर ज्ञान है, जो ग्रमीण गवार है। वर्तमान को ध्यान में रखते हुए अवधारणा यही रहनी चाहिए। मानव समाज के विकाश लोक (लोग) का अपन एक खास स्थान है। असभ्य या अज्ञानी कह कर मामला खत्म नही हो जाता है। देखने वाली वात यह होगी की हमारी कौन कौन सी समस्याओं को यह लोक दूर करता है। जितने उल्झने कम होगी उतना ही लोक का प्रभाव साफ तौर पर हमारी दिनचर्या पर झालकेगा और कुछ नवीन परिकल्पनाओ को स्थान मिलेगा।

लोकनृत्य राई का मंच के साथ धनिष्ट संबंध है। जव इसकी प्रस्तुती मंच पर की जाती है। वास्तव में तभी इसे लोकनृत्य की संज्ञा दी जाती है।इसका मंच साधारण होता है। जो प्रायः अन्य मंचों से कुछ हटकर होता है। इसके निमार्ण में कोई ध्यान नही दिया जाता है।

राई में साधारिणीकरण की पराकाष्टा

वास्तविक रूप मे राई में द्रश्य और द्रष्टा एकाकार हो जाते है।तो वहा सभी दर्शक व राई नर्तक कलाकार अभिनय के माध्यम से किसी के नृत्य अथवा गायन से प्रसन्न होकर दर्शक नर्तकी को संम्बोधित करते रहते है।नर्तकी और दर्शक में परस्पर वार्तालाप भी चलता रहता है।नर्तकी के द्वारा स्वाग गीत गाकर दर्शको को तरोताजा कर देती है। स्वयं भी थोड़ा ठहरकर गीत गाती है। तो स्वयं को भी तरोताजा कर लेती है।उसके बाद दर्शक गढ़ नर्तकी को रूपया भेट कीय जाने पर नर्तकी द्वारा स्वाग गीत गाकर दर्शक को स्वाग गीत के माध्यम से धन्यवादभी देती है लेकिन इस प्रक्रिया से अन्य दर्शको को रसानुभूति में कोई व्यवधान नही पड़ता ।

लोक नृत्य राई के विविध प्रकार और वर्गीकरण

किसी भी प्रदेश के लोग वहा की संस्कृति के मुहं वोलते चित्र कहे जा सकते है। क्योकी इनमें उस भू– भाग के मौलिक आर्दश एवं जीवन के – मुलयों अभिनय तुलिका द्वारा इन्द्र–धुषिय रंगो में चित्रित कीया जाता है। लोक नृत्य राई बुन्देलखंड़ की लोक प्रिय नृत्य परम्परा के सिरमौर है जिसे यहा का प्रसिध नृत्य कहा जा सकता है।बुन्देलखंड की जनरंजन कारी यह विधा बस्तुता अभिनय गीत–संगीत एवं नृत्य की मनमोहक त्रिवेणी है। जिस तरह समुचे भारत की संस्कृति का विकास होता रहा उसी कम क्षेत्रिय संस्कृति अपनी प्रगति में अग्रसर होती रही इस तर बुन्देलखंड भी किसी क्षेत्र विशेष से पीछे नही रहा और अपनी गौरवशाली परम्पराओ को आगे बढता रहा लोक नृत्य की मिली जानकारी के अनुसार एकमात्र राई ही ऐस लोकनृत्य है जो समूचे बुन्देलखड़ की जनता में सर्वाधिक प्रचलित एवं जनप्रिय रहा है।यह प्राया ग्रामीण अचंल के प्रत्येंक गाव–कस्बे में किया जाता हे।त्यौहारो,पर्वो, उत्सवो, मेलो, शादी विवाह, बच्चे आदि के जन्म आदि खुशी के अवसरों पर इस का प्रदर्शन होता है।

लोक नृत्य में अभिनय और गायन

लोकनृत्य की भाषा सामान्य रूपोकी विविधता को प्रस्तुत करती है जो जनमानस के लिए स्वीकार्य होती हे।वही पर हमें इसके लुप्त प्रयाःविभिन्न रूप मिलते है। जैसा की कहा गया है कि गायन तत्कालीन समस्याओं पर प्रहार करता है।लोकनृत्य में अभिनय और गायन दोनो पक्ष सश्क्त होते है। अभिनय में हास्य रस प्रधान होता है।तो गायन व्यंगपूर्ण व चुटिले होते है।जिनमें बात बात पर रसोद्रेक होता रहता है।मगर इसके वावजूद भी इसमें गंभीर चितन की झलक रहती है।बुन्देलीलोक नृत्य राई में पात्रो की संख्या बधी नही होती है।लोक नर्तक अपने अभिनय से इतना परिपक्व होता है। की वह नर्तकी की प्रत्येक भूमीका को आसानी से समझ लेता है।इसके साथ ही साथ गायन की फुहार फूट पडती है।लोग उनकी गायकी को अधिक प्रसन्न करते है।यह नृत्य गाव में भी अधिक ख्याती अर्जित करके समाज में सम्मान नही पा पाता इसमें अभिनय को विस्तार देने की सम्भावना अधिक रहती है।लोककलाकार बात बात में ही नय नय गीत जोड़ते जाते है क्योकि गायक कलाकारों द्वारा किसी भी तरह के अध्यन कीए विना ही गायन करते है। गायन एवं नर्तन लोगो के जीवन में अनुभूति का समावेश है।जिसमें लोक संस्कृती उभरकर सामने आती है।यह उनका अभिनय प्रतिभा का समाज द्वारा दिया जाने बाला सम्मान है।जिससे कलाकारो की अभिनय प्रतिभा निखारने के लिए होती है। उन्हे अपनी अभीनय क्षमता को और निखारने का अवसर भी कीसी नृत्य का जाति विशेष से कोई संम्बंध नही होता बल्की अभिनय की क्षमता रखने वाला कोई भी व्यक्ती इसमें भाग ले सकता है। यह अलग बात है की कला प्रारम्भिक दोर में इस तरह की जाति गत वर्जनाए भी रहती थी। जिनमें निम्न वर्ग के लोग ही भाग लेते थे।

बेड़ियों को भी आराम प्रदान कराता और राई नृत्य की नीरसता भी खत्म करता गायन के माध्यम से बीच में माहौल हसी ठहाकों से भर जाता है। गयान अपनी वाक्य पटूता, अभिनय ,दक्षता व हास्य पटूता के चलते दर्शको के मन पर सीधा प्रभाव डालते है।यही वजह है। की बुन्देलखड़ में जहा कही भी राई नृत्य का आयोजन होता है। लोगो की भीड़ विन बुलाऐ उमड़ पडती हे।वर्तमान में बुन्देलीनृत्य के प्रदर्शन के स्थान अलग–अलग है।राई या अन्य नृत्य के बीच प्रयुक्त गायन केवल राई नृत्य के प्रदर्शन में मंच पर प्रस्तुत नृत्य में सर्बप्रथम सौवत का गायन होता है। इसके बाद नर्तकी के द्वारा अभिनय कीया जाता है।अभिनय में स्थानियता का विशेष ख्याल रखा जाता है।बही पर ग्रामीण लोक संस्कृति पर शहरीयत के प्रभाव को भी जगह मिलती है। मनोरंजन व उल्लासपूर्ण इस नृत्य में लोककलाकारो को अपने समय व समाज की विभिन्न परिस्थतियों को समझने की कूवत होती थी तभी तो वह सामाजिक कूरीतियों व विसगतियों पर अपने गायन के द्वारा व्यंग प्रहार कर समाज को सचेत व जागरूक करते थे।वह इस शैली के बहुत करीव होते थे।राई नृत्य एवं अन्य नृत्यो के बीच जो स्वाग खेला जाता है उसमें नृत्य के बीच अधिक से अधिक 10 य 15 मिनिके स्वाग खेले जाते है। स्वाग के अभिन के उपरान्त समापन की स्थिति में सभी पात्र गीत गाते है। जो स्वागं के आधार पर आधारित होते है।फिर राई नृत्य प्रारम्भ हो जाता है।राई के मंचन में प्रकाश व्यवस्था के लिए मशाल का प्रयोग किया जाता था, फिर लाल टेन व गैस बत्ती आदि का इस्तमाल किया जाने लगा वर्तमान में पार लाईट, फोकस, और डिमर आदि अधुनिक उपकरणों द्वारा प्रकाश व्यवस्था कि जाती है प्रचीन काल में मिट्टी के दीपक जलाकर रोशनी की जाती थी घरों व दिवालायों पर प्रकाश के लिय दीपक जलाने की परंपरा रही है, उसी प्रकार राई नृत्य में प्रकाश के लिए मशालों से रोशनी की जाती थी जिसमें मिट्टी का तेल डाला जाता था, रात्रि भर चलने वाले राई नृत्य व स्वॉग के दौरान इनमें बार बार तेल डाला जाता था, ताकि प्रकाश व्यवस्था निरंतर जारी रहे।

बुंदेली राई की वर्तमान स्थिति व संरक्षण एवं संवर्धन

बुंदेली राई और स्वांग कलाकार

एक समय था जब बुंदेली लोक नृत्य राई व लोक नाट्य स्वांग पूरे बुंदेलखंड अंचल में प्रचलित था और यहां के जन जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा था परंतु आज यह विलुप्त होने की कगार पर है पूरे बुंदेलखंड का भ्रमण करने के बाद मुझे कुछ गॉवों कस्बों में ही लोक नृत्य राई व स्वांग की परंपरा को निभाने वाले कलाकार मिले जिनमें से अंधिकतर कलाकार यह पेशा कला छोड चुके है और अन्य काम धंधों से अपनी जीविका चला रहे है, कुछ एक राई एवं स्वांग कलाकार आज भी इस पंरपरा का निर्वाह कर रहे है परंतु उनकी संख्या अल्प है।

अधुनिक स्वतंत्र भारत के गठन से पूर्व तक बुंदेलखंड एक अलग रियासत थी लेकिन वर्तमान में बुंदेलखंड एक स्वतंत्र राज्य न होकर दो अलग अलग राज्यों में मध्य प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश की सीमा में आता है, परंतु सांस्कृति और भाषागत दृष्टिकोण से कोई बदलाव नही है उत्तर प्रदेश के बुंदेलखंड के ग्रामीण अंचलों का भ्रमण करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला की उत्तरप्रदेश राज्य के बुंदेलखंड क्षेत्र में राई व स्वांग की परंपरा न के बराबर बची हुई है और राई के कलाकार भी बहुत अल्प है इसके कई कारण हो सकते है एक तो उत्तरप्रदेश के बुंदेलखंड प्रचलित लोक नाट्य नौंटकी रामलीला, रास लीला आदि का प्रभाव बुंदेली राई व स्वांग से ज्यादा रहा है दूसरा उत्तरप्रदेश शासन की उदासीनता भी बुंदेली राई स्वांग के प्रति रही है, लेकिन धार्मिक एवं रिती रिवाजों में भी बदलाव आये है जिसके कारण यह लोक संस्कृति धीरे–धीरे खत्म होने के कगार पर आ

पहुची है। इसके संरक्षण एवं संवर्धन इस कला का मंचीय प्रस्तुतियॉ शहर, जिला कस्बों में लगातार होना अति आवश्यक है जिसके ऊपर हमारे साथ साथ सरकार को भी ध्यान देना होगा।

लोक संस्कृति लोक से जुडी हुई होती है वह किसी विशिष्ट जाति या समाज की वैचारिकता पर निर्भर नही होती ये इसलिए उसने अपने में सभी को समाहित कर लिया है लोक संस्कृति में समस्त बाहरी तत्वों को समाहित करने की क्षमता होती है वर्तमान में संस्कृति सक्रमण के कारण अनेक संस्कृति संपर्क से अलग हो रहे है, वैश्वीकरण के कारण लोक संस्कृतियों के स्वरूप में भी परिवर्तन हो रहा है, एक ओर पश्चिमी संस्कृति और बौद्धिकता के प्रभाव स्वरूप नई जीवन दृष्टि यहां बदल रही है जिससे हमारी अश्मितता तक को खतरा हो गया है, दूसरे त्याग और बलिदान के उद्देश्य से भटकर उपभोक्ता वादी हो गये है, भारतीय संस्कृति के अंर्तगत परंपराओं का परिवेश मानव सभ्यता के विकास की प्रक्रिया से जुड़ा चला आ रहा है, उन्हीं परंपराओं से लोक नृत्य व लोक नाटय का जन्म हुआ, जो एक सिक्के के दो पहलू जैसा है परंपरा का चलन व लोक नृत्य का जन्म जब से हुआ है तभी से उसके साथ साथ लोक नृत्य व लोक नाट्य भी प्रचलित हुये जन्म से लेकर मृत्यु तक की परंपारए बुंदेली संस्कारों में जो चली आ रही है, उनके साथ ही साथ लोक कलाए भी चली आ रही है, ग्रामीण क्षेत्र के निवासी मेहनत व खेत खलियानों हाट बजारों कछारों में कही भी मेहनत करके दिखाई दे जाते है ऐसे परिश्रमी ग्रामीणों की उनके जीवन से जुड़ी हुई परंपराए उनमें उर्जा का संचार करती है जो लोक गीतों लोक नृत्यों लोक नाट्या और लोक परंपराओं के माध्यम से उजागर होती है, ये परंपराए ही जिनसे लोक नृत्य व लोक नाट्य जन्में है यही उनका जीवन साहित्य है, जो उनकी धमनियों में रगो में खून बनकर दौड़ रहा है आज के भौतिकवादी दौर में ये परंपराए

अविलुप्त हो रही है, जिसके परिणाम स्वरूप लोक नृत्य राई व लोक नाट्य स्वांग भी समाप्ति की कगार पर है, वर्तमान में बुंदेली लोक नृत्य विलुप्त होती लोक परंपरा है, बुंदेलखंड अंचल में आज भौतिकता के दवाब तथा शिक्षा के प्रसार के कारण लोक आचरण बदल रहा है आज संध्या काल के समय गॉवों की चौपालों में पहले की तरह सावन भादों के महीने में आल्हा गाते हुये कलाकार नही मिलेगे पहले मोहल्लों में नियमित ही रामचरित्र मानस का सामूहिक पाठ होता था अब वह अल्प ही देखने को मिलता है कार्तिक अगहन में कड़ाके की ठंक को मिटाने के लिए कोड़ा जलाया जाता था और आग तापते हुये वृद्ध, लोक कथाऐं सुनाते थे, जो अब नही मिलेगे उनकी जगह पूरा समय टीव्ही के फूहड गानों ने ले लिया है अब राम लीला व रासलीला के स्थान पर टीव्ही पर आ रहे सीरियल देखे जा रहे है, पहले बुंदेलखंड की महिलायें प्रातः चार बजे से चकिया पीसती थी और लोक गीत गाती थी अब वह परंपरा भी विलुप्त हो गयी है अब घर घर में इलेक्ट्रनिक चक्कियां लगी हुई है और न जाते (दलिया दलने की देसी यंत्र)

वर्तमान में बुंदेलखंड में लोक नृत्य राई व स्वांग के दो रूप प्रचलित है एक संस्कारिक और एक अष्टानिक रूप में और दूसरा प्रदर्शनकारी रूप में दोनों के प्रदर्शन की टोलियों में पहले उत्साह देखने को मिलता था पहले प्रत्येक गॉव में सिर्फ एक ही टोली होती थी जो सामूहिक रूप से कार्य करती थी गीत गाती थी लोक नृत्य करती थी, स्वांग करती थी परंतु आज इनका प्रर्दशन खत्म सा हो गाय है अब मोनियों का स्वांग व्यवसायिक रूप से किया जाता है जब कलाकारों से इस विषय पर व्यक्तिगत रूप से बात की गई तो पता चला की अधिकांश कलाकार पिछड़े और दलित वर्ग से होते थे जो अब नाचने से कतराते है की हम ही क्यो नाचे या गाये उच्च वर्गीये लोग क्यो नही सवर्ण और अवर्ण की राजनीति नही थी।

वर्तमान में ग्रामीण लोक कलाकारों के मन में जाति गत द्वेव भावनाऐं कारगर हो रही है, जिससे अपसी सद्भाव और उत्साह कम हो रहा है होली के समय पर होने वाले लोक नृत्यों व स्वांगों में अब झगडे फसाद हो रहे है क्योकि उच्च और दलित जातियों की विकसित मानसिकता से उनका आपसी अहम टकरा रहा है, सभी अपनी ऐढ छोड़ने को तैयार नही है, दलित स्वाभिमान रक्षा हेतु कला छोडने को तत्पर है।

बुंदेली लोक नृत्य व लोक नाट्य में अन्य लोक नाट्य की भांति रूडीवादी वर्ण भेद, जाति भेद, संयुक्त परिवार, परिवारिक दायित्व, लोकाचार, लोकरिती, पुरूष प्रधान समाज और नारी की उस पर निर्भरता का चित्रण, सास बहू एक दूसरे के विपरीत आदि का वर्णन मिलता है वर्तमान समय समाजिक यर्थाथ में बहुत परिवर्तन आ गया है जाति भेद, वर्ण भेद आदि की संकीर्णताओं से निकलकर लोग उची दृष्टिकोण अपनाकार सामाजिक व्यवहार करते है और जीवन को स्वस्थ्य सामान्य बनाने का प्रयत्न करते है, बुंदेलखंड के सांस्कारिक एवं पारंपरिक लोक नृत्य बच्चे के जन्म से ही प्रारंभ हो जाते थे, जन्म संस्कारों के समय की परंपराओं में गर्वाधान से लेकर बच्चें के जन्म लेने तक फिर उसके पश्चात् चौक से लेकर उसके मुंडन कन्छेदन तक की अनेक परंपराऐं प्रचलित थी इन परंपराओं के साथ नेग दस्तूर और गीतों का गायन महिलाअें द्वारा समूह रूप से होता था, पूर्व में जहां दाई नाउ महिला नाई मालिन आदि द्वारा परंपरा का निर्वाह होता था, आज वह समय की धारा में बह गया है, जन्म संसार की कार्य प्रणाली बदल गई है, अब बच्चों का जन्म घरों में नही अस्पतालों में होता है दाय की जगह नर्स ने ले ली है घरों में केवल रस्म अदायगी रह गयी है। अब न तो मुंडन संस्कार है और न ही कन्छेदन संस्कार देखने को मिलते है ऐसे में भला उनकी परंपरागत पहचान भी कैसे जिंदा रह सकती है अंतः उस परंपरा के साथ गाये जाने वाले लोक गीत एवं पारंपरिक लोक नृत्य की भी इति श्री हो गई है।

शादी विवाह के अवसर पर सर्वमहिलाओं द्वारा किये जाने वाले संस्कार संबंध ही लोक नृत्य व स्वांग की जो परंपराए थी वह भी समाप्त हो गई है, या बिल्कुल अल्प हो गयी है, उस अवसर विशेष में गाये जाने वाले लोक गीत भी अब कम सुनाई पड़ते है लगुन बाग शादी वर की खोज बनरा बनरी, बारा मासी, भावर, कन्यादान, पाव पखराई, धान बुआई, कच्ची पंगत, पक्की पंगत, कुवर कलेवा, समधी की विदा, डलिया डोली, देवी देवता पूजन, मौचायने आदि संस्कारों से संबंधित जो भी हास्य व्यंग से नित्य व स्वांग होते थे, वह अति सुदूर ग्रामीण अंचलों में ही देखने को मिलते है बुंदेलखंड में महिलाऐं विवाह के अवसर पर स्वांग के साथ जो गारिया गाती थी उन्हें सुनकर देखकर राहगीर भी मंद मंद मुस्काते हुये चले जाते थे, जब रात्रि कालीन रौनक, चौपाल की बैठक खत्म हो गई जिसके साथ जो अभिनय और लोक कला का समा बधता था वह भी खत्म हो गया है।

जाति गत परंपराओं में गुम्फित अनेक स्वांग गाये जाते रहे है जब सुबह सुबह दरवाजे पर साधू आते थे तो वे दान मॉगते हुये राजा कर्ण, भरथरी चरित्र सुनाया करते थे इसी प्रकार के काछियों द्वारा कछयाओ ढीमर द्वारा ढिमरयाई सजनई लहचारी अहिरों द्वारा जागार दिवारी, धोबियों द्वारा धुबियाई, कानंडा के स्वांग की पंरपरा बुंदेलखंड में जानी पहचानी रही है, इन सब में लोक परंपरा का उत्सव लोक जीवन को बांधे रखने में समर्थ रहा है जो अब दिखाई नही पड़ता।

आर्थिक स्थिति बदलने से रहन सहन में परिवर्तन आना स्वाभाविक है लोक भेषभूषा भी बदल रही है, स्त्रियों के श्रंगार प्रसाधन और आभूषणों में भी बदलाव आ रहा है पुरूष वर्ग में पुरानी पीढ़ी ही मात्र धोती कमीज पहन रही है वहां से भी पंचा, बंड़ी गायब है। अब पेन्ट, पजामा, शर्ट तथा कुर्ता इनके स्थान पर आ गये है।

इन तमाम परिवर्तनों के पीछे आज की बदलती दुनियॉ आज बुंदेलखंड का लोकमन संचार माध्यमों और शिक्षा के कारण परिवर्तन हो रहा है, आज भौतिकता के बड़ते प्रभाव से व्यक्ति वैज्ञानिक सोच का पक्षधर होकर कर्मकांड और रूडियों का विरोधी हो रहा है, इसी के साथ व्यक्ति बढ़ते चिंतन के कारण लोक संस्कृति के सामूहिक मानव कल्याण पक्ष पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा है, लोक संस्कृतियॉ संक्रमण काल से गुजर रही है, आवाश्यकता आज अच्छी संस्कृति सामूहिक वातावरण की है उसके विपरीत पश्चिमी संस्कृतियों के बढ़ते बदलाव आ रहा है। इस बदलते हुये युग में लोक गीत के गायन में भी बदलाव आया है लोक गीत गायन जहां पहले लोक वाद्ययों का प्रचलन देखने सुनने को मिलता था वही आज इनके स्थान पर अब आधुनिक परिवेश में पश्चिमी वाद्यों की सहायता से लोक गीत गाये जाने लगे है पूर्व में तमूरा, खंजडी, केंकडी, अल्गोजा, मृंदग, कसावरी, ढोलक, नगड़िया, आदि वाद्य बजाये जाते थे, अब उनके स्थान पर ट्रिपल कांगो, बैंजो इत्यादि अपना स्थान बना चुके है।

आधुनिक युग विज्ञान का युग है सिनेमा का प्रभाव जन जन पर पड़ रहा है, सिनेमा के संगीत, अभिनय आचार–विचार भी जन समाज पर पड़ रहा है ऐसी स्थिति में लोक नृत्य या लोक नाट्य का इस प्रभाव से अछूता बच पान असंभव है आज की वर्तमान स्थिति बड़ी दयनीय है, मूल स्वरूप खत्म हो रहा है सीडी कैसेट वीडियों वाली कंपनियों ने तो लोक नृत्य राई का मूल रूप इतना बिगाड़ दिया है कि यह पहचानना भी मुश्किल हो रहा है, कि लोक नृत्य राई का असली रूप क्या था, बुंदेली लोक नृत्य गीत या स्वांग लोक नृत्य समाज को मनोरंजन एवं शिक्षा प्रदान करते थे, लेकिन व्यवसायिक लाभ हेतु इन कंपनियों ने लोक नृत्य की अश्लीलता अभ्रदता का ऐसा नंगा नाच इसके माध्यम से पेश किया है कि इन बुंदेली लोक कलाओं की अस्मिता तक को खतरा हो रहा है, इससे ही सवर्ण वर्ग इसे

अश्लील मानकर समाज में इनका विरोध करता आ रहा था परंतु उत्कृष्ट और सभ्य प्रस्तुतियों ने उनकी इस अवधारणा पर और तीखी चोट की लेकिन वर्तमान में यह सीड़ी कैसिट कंपनियॉ उन्हें पुनः इसका विरोध करने का मौका प्रदान कर रही है, इस बात का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि वर्तमान में मध्यप्रदेश सरकार ने लोक नृत्य राई को अश्लील मानकर इस पर मंचीय प्रस्तुतियों पर रोक लगा दी है, लोगो ने रूप्या लुटाकर कर संतोष प्राप्त किया है, और पर्दे पर देखने से यह संतोष प्राप्त नही हो सकता, प्रत्यक्ष नित्य में वह स्वयं को मंच का एक पात्र अनुभव करता है, जबकि पर्दे पर यह संभव नही हो पाता।

लोक नृत्य व लोक नाट्य भी दर्शक सिर्फ दर्शक होता है, वह बीच बीच में न तो अपने उद्‌गार प्रकृट कर सकता है और न ही उन अभिनेताओं के साथ सीधा संबंध स्थापित कर सकता है, जबकि स्वांग में वह अभिनेताओं को अपने हाथों से रूपया दे सकता है, अपने नाम का चौबोला (स्वांग गीत) नर्तकियों द्वारा गुआ सकता है और इसी प्रचलित गीत पर या राई की सौबत पर आह भी भर सकता है, फिकरा कस सकता है, स्वांग में अभिनेता और दर्शक का भेद मिटकर तारतम्य स्थापित हो जाता है जो नाटक और सिनेमा में नही बैठ पाता।

फिर सिनेमा अपने आडंबर के कारण सभी स्थान पर सुलभ नही है, उसके लिये भारी भरक हाल मशीनों की आवाश्यकता है जबकि लोक नृत्य व लोक नाट्य स्वांग गली, नुक्कड़ चौराहे, चौड़े मैदान जहां दिल चाहे अभिनीत किया जा सकता है स्वांग अपनी स्वाभाविकता और सहजता के कारण आडंमर पूर्ण प्रदर्शनों पर बाजी मार ले जाता है, स्वांग नाटक और सिनेमा में यही अंतर है जो एक ग्राम या नगर में होता है।

बुंदेली लोक नृत्य व स्वांग की वर्तमान स्थिति, संरक्षण एवं सवंर्धन

परिवर्तन प्रकृति का महत्वपूर्ण नियम है समयानुसार सभी चीजे बदलती है परिवर्तन होता है, जो चीज अपने आपको समयनुसार परिवर्तिन नही कर पाते वह नष्ट हो जाती है अंत लोक संस्कृति में भी समयानुसार बदलवा वाछिंत है अन्यथा यह रूढ़ी बन जाती है पुरातन के साथ नूतन का समावेश ही नयी चीजों को संस्कृति के संरक्षण व संर्वधन की ओर प्रेरित करता है, लोक संस्कृति विभिन्न उपादानों के ही अनुरूप लोक नृत्यों लोक नाट्यों को भी महज परंपरा के लिए तक ही देखना मानव समाज प्रवाहमान लोक धर्मी विरासत के महासंग्राम में एकात्रित करता है।

वर्तमान में शहरी व ग्रामीण परिवेश तथा जीवन शैली में भारी बदलाव आया है उसी के चलते आम जन मानस की समस्याओं का स्वारूप भी बदला है उसके आधार आम आदमी की मुश्किलों को विस्तार हुआ है शहरी परिवेश में भागदौड़ की जिंदगी में आदमी मशीन बनता जा रहा है मानवीय संवेदनायें खो चुका है शांति के लिए मन मे भटकाव है, ध्यान व युग वर्तमान नये दौर का फैशन बनता जा रहा है, भक्ति के मायने बदले है साधना अब कारोबार हुई है जिन्दगी की रफ्तार तेज हुई है। इसके बावजूद मानवीय अस्तित्व का सवाल सामने खड़ा बेरोजगारी का यक्ष प्रश्न अभी तक अनसुलझा है।

कुछ पुराने संदर्भः इतिहास की खोजः

राई का महत्व आंकने के लिये कुछ पुराने संदर्भ देना आव यक है। यह खोजना कठिन है कि यह लोकनृत्य कब से प्रचलित हुआ, परंतु हर लोक नृत्य आदिम खेतिहरों से विकसित हुआ है और राई तो रबी की फसल कटने की अवधि से जुड़ा हुआ है। इसलिये अपने उद्भव और भौ ाव–काल में वह कृशकों की गोद में पला–पुसा है और फसल की समृद्धि से फूटते आनंद के साथ परवान चढ़ा है वैसे तो हिन्दी के प्रथम कवि जगनिक के लोकमहाकाव्य 'आल्हा' (12 वीं भाती) और 'परमालरासो' में आल्हा–ऊदल के जन्मोत्सव–वर्ण में मिलता है, पर राई का संकेत नहीं है। ''छिताई'' चरित (15 वीं भाती) में मृंदग के साथ नृत्य की संगति है – 'नाद मृदंग कला परबीना' नाचहि चतुर प्रेमरस लीना।। ''जायसीकृत पद्मावत (16 वी भाती) में बेड़िनी'' के नृत्य और आचार्य के ाव कृत रामचंद्रिका में बेड़नी के गीत का उल्लेख मिलता है जिनसे राई गीत के प्रचलन की व्यापकता प्रकट होती है राई को टीकमगढ़, ललितपुर जिलों के क्षेत्र में ख्याल सागर दमोह जबलपुर के क्षेत्र में फाग, राई, स्वांग और झॉसी, जालौन क्षेत्र में टोंक कहते है छतरपुर, पन्ना आदि क्षेत्र में उसे राई ही कहा जाता है और अब तो राई नाम ही सर्वत्र प्रचलित हो गया है।

अॅगना सूखे सूकनो

बन सूखे कचनार।

गोरी सूखे मायके

हीन पुरूश की नार।

हमें सुख नाइयॉ सासरे आय को।

ख्यालः– लोकगीतों में गाया जाने वाला यह ख्याल भाास्त्रीय संगीत की लय ताल से भिन्न होता है। लोक रागनी के इस ख्याल में प्रेम परक पारिवारिक अनुभूतियों से जुड़े ग्रामीण मन के विचार राई नृत्य की ताल पर गाये जाते है कुछ ख्याल गीत दृश्टव्य है

बेला कली कुम्लॉय रे
भौंरा परदेशी निकर गये।
कानें लगा दई बेला–चमेली
कोंने लगा दये गुलाब?
राजा लगाई बेला–चमेली
रसिया नें लगा दये गुलाब?
भौंरा पदेशी निकर गये।

राई गीत :– राई गीत प्रायः श्रृंगारिक होने के कारण रसिक लोगों को अधिक प्रिय होने के कारण रसिक लोगों को अधिक प्रिय लगते हैं। इन दो कड़ियों के राई गीतों

में बड़ा वजन होता है। गहरा असर करने वाले भाास्त्रीय बंधन से मुक्त अपनी मौलिक धुन के ये गीत सभी के दिल दिमाग में आसानी से उतर जाते है, और मिश्री की डली की तरह घुलकर मिठास देते हैं।

सौबत अपनी जगह पर कोई भी लोकगीत गाती झूमती रहती है। सभी वाद्य धुन में बजते रहते हैं, तभी बेड़िनी मशालची के साथ मुजरा की तरह फेरी लेने के लिये दर्शकों की ओर झूमती ठुमकती बल खाली हुई जाती है। बेड़िनी इन्हीं राई गीतों के माध्यम से रसिकों के दिलों को गुदगुदाती है। उन पर अपनी अदायें – बिखेरती हुई बॉये कान पर बॉया हाथ रखकर गाती है –

गेंदा कैसे फूल

कब तक बनें रेहो राजा।

हॅसा करे ले किलोर।

जाने कबे रे मर जानें।

छाती के भंझार।

चल रये घड़ी कैसे कॉटे।

भोरो भाायरी की तरह बेड़िनी इन राई गीतों को अदा के साथ गाती है। इन गीतों की लटक अपने आप में निराली है जो साजोंबाजों से अलग हटकर जवानी के जोश में सुरीले कंठों से गूँजते हुए जीवन के हर मोड़ पर खड़े हुए व्यक्ति को अपनी ओर रिझा कर भाव विभोर कर देते हैं।

चौबोलाः– सागर जिले के सानोदा ग्राम में छतरपुर और अबार के न व दुर्गा मेले में सौबत सावल रखता है और सभी बेड़िनियॉ उसका मुहतोड़ जबाब देकर वाहवाही लूटती है। बुंदेलखण्ड में ऐसे गीत को चौबोला कहा जाता है। सौबत गीता का मुखड़ा दोहराती रहती है और आगे की दो–दो पंतियों में सवाल–जबाब रहते है जैसे कि –

नैना बंद लागे कहियो

चोली बंद लागे कहियो

पुरूश – राहर के पेड़ चढ़ी चिटिया।

हमसें ने बोलो मताई बिटिया।।

स्त्री – बाड़ी खों घेर–घेर बओ बटरा।

गोरी कलोरी, छेला नटवा।।

स्वांग – राई गीत की समानान्तर धुन और भौली पर स्वांग भी गाया जाता है। स्वांग की प्रत्येक पंक्ति में कोई एक कथाव्यथा होती है जिसे ग्रामीण कलाकार अपने अभिनय से साकार करते हैं।

गते नाचते जब बेड़िनी थकान महसूस करने लगती है और सौबत थोड़ा विश्राम के लिए चिलम तमाखू पीना चाहती है तब स्वांग (नकल) होता है। जो एक नाट्य रूप में अभिनीत किया जाता है। जिसमें हास्य विनोद के साथ आज की सामजिक–धार्मिक राजनैतिक जीवन की परिस्थितियों पर व्यंग करते हुए सच्चाइयों को उजाकर किया जाता है।

बुंदेल खंड के राई गीत

बुंदेलखंड यानी बुंदेली भाशी प्रदेश के राई गीत कोयलिया के गीत है, जो कोयल की कूंक के साथ भुरू होते है और उसके बाद बंद होने पर खत्म हो जाते है, इतना ही नही कूंक की मिठास और व्यंजना उन गीतों में इतनी समाई है कि उन्हें कोयलिया के गीत कहना उचित लगता है, वैस ये गीत लोक नृत्य की रानी राई से आत्मा की तरह जुड़े है इसलिये बसंत ऋतु में या किसी भी ऋतु के कोई उत्सव या आयोजन में अथवा गॉव के किसी समैया या पर्वो पर जहॉ भी राई नृत्य होता है, राई गीत उसके बोलो की तरह पहले ही गूंज उठती है, इस तरह इन गीतों के बसेरे अब सिर्फ गॉवों

में नही है, वरन नगरों में भी फैल रहे है इसलिये इन गीतों के लोकभाास्त्र का परखना जरूरी है, कही ऐसा न हो की नगरों की चकाचौंध में अपने को भूलकर अपनी असीमता खो दे और इसलिये भी की आज तक राई नृत्य की चर्चा हुई है लेकिन राई गीत उपेक्षा के शिकार रहे है।

एक पंक्ति का होने से राई गीत आदिम काल का लगता है, इस संदर्भ में एक सवाल यह उभरता है कि पहले राई गीत जन्मा या राई नृत्य इसका निराकरण कठिन है क्योकि यह गीत नृत्य के साथ जुड़ा हुआ है, वैसे राई गीत स्वतंत्र रूप में गाया जाता है, पर बहुत कम कभी कभी फगों के फडो में इन गीतो का गायन आज भी होता है संभव है कि चौकड़िया फागो का उद्‌भव (19 वीं सदी के उत्तरार्ध) के पहले राई गीतों की फडवाजी होती रही है, अबार के मेले में राई गीतों की प्रश्नोत्तर भौली से यह और भी सत्य प्रतीत होता है इस क्षेत्र के देहातों में भी इन गीतों के रचनाकार मिलते है जो बात ही बात में राई गीत रच देते है, असल में कुछ कारणों से इन्हें साहित्य में महत्व नही मिला इसलिये इनका वैसा प्रचलन नही हो सका जैसा चौकड़िया फागों का इस राई गीतों का अपना अस्तित्व है और मुझे तो ऐसा लगता है कि वे राई नृत्य के बोलों के तरह जन्में होगे। तब कही राई नृत्य ने अपना रूप पाया होगा।

राई गीत के संबंध में कुछ भ्रांतियॉ भी है जिन्हें दूर करना जरूरी है एक तो यह कि एक विद्वान सज्जन ने एक टिप्पडी में लिखा था राई भीशर्क के कोई गीत बुंदेलखंड में प्रचलित नही है जिस गीत को राई कहा जा रहा है, उसे टीकमगढ़ ललितपुर जिलों के क्षेत्र में ख्याल सागर दमोह जबलपुर के क्षेत्र स्वांग और झॉसी जालौन क्षेत्र टोक कहते है, मेरे निवेदन यह है कि छतरपुर पन्ना आदि के क्षेत्र में उसे राई कहा जाता है, सर्वेक्षण से पता चला है कि गायक रचनाकार और नतकियॉ सभी एक पक्ति के गीत को राई ही कहते है, जन प्रचलित है कि राई गाहो तो बेड़िनी

नाच है, (स्व. शिवसहाय चर्तुवेदी ने भी अपनी पुस्तक बुंदेलखंडी लोक गीत में इसे राई कहॉ है) यहा तक की अंत में दी हुई गीत सूची में राई फाग आदि नाम देकर राई के अस्तित्व को अलग से स्वीकारा है, मैं समझता हूॅ कि गीतों को ख्याल स्वांग और टोक कहने की अपेक्षा राई कहना अधिक उचित है, कुछ लोक राई को फाग का एक प्रकार मानते है मै भी मानता था पर जहॉ तक एक पक्ति के गीत की बात है उसे फाग से स्वच्छंद मानना चाहिये, फाग का अर्थ यदि बसंत के गीतों से लगाया जाता है तो इस व्यप्ति में फाग के आलावा भी गीत आ जाते है, लोक प्रचलित भाब्द राई की भी अपनी सार्थकता है, मैं समझता हूॅ कि वह संस्कृति के रागी भाब्द से उत्पन्न है प्राकृतिक कोश में राई की व्युत्पत्ति रागिन से की गई है रागी का अर्थ राग युक्त अथवा रंजन करने वाला और राई में दोनों अर्थ निहित है, बुंदेलखंड में राई दामोदर से राधा कृश्ण का बोध होता है अंतः राई राधिका से आया जान पड़ता है, संभव है कि राधिका के नृत्य (रास) से राई नृत्य और उसमें गाया जाने वाला गीत भी राई कहा जाने लगा हो, राजस्थान में राई को गवरी (गौरी या पार्वती) और नर्तकी को भी कहा जाता है, इस आधार पर राई नर्तकी का गीत ठहरता है, जो भी हो राई गीत इन सब विषेशताओं से युक्त है उसमें राग और रंजन करने की क्षमता भी है, वह प्रमुख रूप में श्रंगारिक है और नृत्य के अनुरूप लय युक्त भी।

ये गीत तीन रूपों में प्रचलित है पहला और सबसे पुराना रूप है एक पक्ति का जो टेक जैसा मालूम पड़ता है, यदि उसे टेक या दुमदार दोहे की लटकनियॉ मान

लिया जाये तो वह उतना पुराना नही ठहरता, यह निश्चित है कि गीत अपनी आदि काल स्थिति में पहले एक पक्ति का रहा होगा, और फसल कटकर आने के समय कृशकों के आनंदउत्सव में गाया जाता रहा होगा। इस दृश्टि से देखने पर वह प्राचीनतम माना जा सकता है, जिसका एक उदाहरणः–

मर जे हो गवार, मर जे हो गवार

झुलनी को झूला न पाइहो

छिटकी चारई ओर छिटकी चारई ओर

सूरज की बेन जुदैया

कोयल कतरे आम कोयल कतरे आम

सुआ ने गत कर दई बाग में

सावरियॉ श्रारीर सावरियॉ श्रारीर

सोचन में करिया पर गये।

अरसी कैसो फूल अरसी कैसो फूल

सांवरे बदन रघुनाथ के

सपने में दिखाये सपने में दिखाये

पतरी कमर बूंदा बारी

मोरी मैया अबार मोरी मैया अबार

गिन गिन के गुंडा नबेर लेव।

छतरपुर के आस पास के क्षेत्र में इन्हें ही राई गीत के नाम से जाना जाता है दूसरा पुराना राई गीत यह है जिसमें ऊपर की पक्ति के साथ दोहा या दोहे जुड़े हो

इसे ही सखियाऊ फाग कहा जाता है, सखियाऊ साखी से बना है जिसका आ ाय यह है कि साखी या दोहा केन्द्र में हो परंतु निम्नलिखत राई में दोहा केन्द्रीय अर्थ नही देता वरन टेक ही मुख्य अर्थ का भार संभाले हुये है, इस कारण यह सखियाऊ फाग की अपेक्षा राई के नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

बज रई आधी रात बज रई आधी रात

बेरन मुरलियॉ जा सौत भई

वन से तू काटी गई

छेदी तोये लुहार

हरे बॉस की बॉसुरी

मनु निकरो नई सार बैरिन

पोर पोर सब तन कटे हटे न औगुन तोर

हरे बॉस की बॉसुरी ले गई चित बटोर बैरिन

उपयुक्त राई की गायकी बिल्कुल वहीं है जो एक पक्ति वाली राई की केवल दोहा बीच में जुड़ गया है, एक तीसरे प्रकार की राई झूलना की राई है, जिसकी अर्द्ध पक्ति में पहली राई की अर्द्ध पक्ति होती है, और दूसरी अद्ध पक्ति लंबी होती है, जैसेः–

ऐसी जागा चलो ऐसी जागा चलो

गहरी नरैया, घने मौआ, जंमुनियॉ के छांयरे

झुलना की राई में थोड़ा परिवर्तन स्पश्ट है कभी कभी राई की चार पॉच पक्तियॉ जोड़कर और तुरंत मिलाकर राई की फाग बना ली जाती है, जो चौकड़िया फाग से अधिक मधुर और नृत्य के अधिक उपयुक्त लगती है एक उदाहरण प्रस्तुत है,

कैसो नौनो लगे, जंगल में इते उते घूमवो
भोर चीता फिरे, तेंदुअन घातभरो हेरवो
रोज सांभर की साझ, झुंडन में फदर–फदर दौरवो
कऊं–कऊं भैंसा फिरे, सुंगरा को घुर्र–घुर्र घूरवो
सुगर मिरगन की चाल, मोरन को पंखा मरोरबो

इन उदाहरणों से स्पश्ट है कि राई गीत में विशय संबंधी वस्तु कुछ विविधता तो है पर मूलतः वे श्रंगारी गीत है, उनमें सहयोग की भोग परख लालसा अधिक है वियोग की पीड़ा कम एक बात और है राई के बहुत संक्षिप आकार में भाओं का एक टुकड़ा

ऐसा असर करता है, जैसे दाल में नमक की एक गली, उसकी बामन देह में तीन पगो से धरती नापने की क्षमता है, राई की एक पक्ति में समाया भाव इतना पैना और तीव्र होता है कि तुरंत श्रोता की नस नस में फैल जाता है यद्यपि कुछ गीत अशलीलता की पारी छूने लगते है, तथापि उनमें भी कुछ वकृता और साहित्य चमत्कार होता है, जो अंदर तक गुदगुदा देता है, उदाहरण के लियेः–

फुटकर ने बताओ, फुटकर ने बताओ

चल गये रूपईया सौ सौ के

इस में बिकने लोक विम्ब कितना सटीक और सजीव है भक्ति और प्रकृति परख गीत भी मिलते है और यथार्थ जीवनानुभव के चित्र भी लेकिन जो रस श्रृंगारी गीतों में है, दूसरे गीतों में नही राई में वर्तमान संर्दभो के प्रति इतना अधिक जागरूकता है, कि उन पर लोक जीवन से दूर होने का आरोप नही मड़ा जा सकता गायक या रचनाकार देवी जी से प्रर्थना करता है।

मोरी मईया अबार, मोरी मईया अबार

झोली भरो झूमर बांधों

मेरे समझ में भक्त की यह याचना जीवन की वास्तविकता का यर्थाथ अनुभव है, और राई ऐसे ताजे अनुभवों के कारण आधुनिक जीवन से पूर्णतया संबंध है।

राई की गायकी सीधी साधी लोक गायकी है, गायक मृदंग या ढोलक, नगड़ियॉ, झांझ, मजीरा, झीका, इगरी आदि लोक वाद्ययों के साथ पहले कहरवा या दादरा ताल में मध्य लय से गाते है, फिर इसी की आवृत्ती दुगुल या चुबुल में द्वित लय में होती है, झूलना की राई में लय झूला की तरह झूलती असल में यह लय प्रधान गीत है, एक धुन की देर तक आवृत्ति एक अलग समा बांध देती है, इसलिये नृत्य के लिये उपयुक्त ठहरती है।

बुंदेलखंड के राई गीतों की लोकप्रियता का कारण उसकी चुटीली व्यंजना है, अंदर तक घाव करने वाली, बिहारी की तो दो पक्तियॉ जाने कितने साजो सामान और बंधान के सामय नावक के तीर की तरह छूटती है लेकिन राई की एक पक्ति किसी भी बंधन के बिना सहज ही चल पड़ती है और भाब्द भेदी तीर सी अचानक हृदय भेद जाती है, नि चल और स्वस्थ्य मानसिकता है सहज ही फूटे गोत सुमन न जाने कितनी अर्थ गंधों को छुपाये रहते है।

एक बांनगी काफी है

मर जे हो गवार मर जे हो गवार

झुलनी को झूला न पाहियो

इस सीधी पक्ति में न जाने कितने अर्थ भरे है आपही सोचे और इस आरोप से बचे कि मर जे हो सुजान मर जे हो सुजान राई के अरथ न जानि हो,

राई लोक गायकी

राई एक नृत्य गीत है जो एक पक्ति का होता है, मध्य में यति होती है, इस प्रकार गीत दो भागों में बट जाता है। पहले भाग को दोहराकर दूसरे भाग का गायन करते है। गायक दल में कोई एक गीत को उठाता है, फिर कई गायक समूह में गा उठते है गायक दल वादक दल अपने लोक वाद्ययों मृदंग या ढोल, नगड़ियॉ, झांझ, मंजीरा, झीका, टिमकी आदि के साथ संगत करने को तैयार रहता है पहले मध्य लय, फिर द्वित में गायकी सक्रिय हो जाती है, कभी कभी नर्तकी ही गीत की पक्ति उठाती है और उसी पर थिरकने लगती है, इसमें अधिकतर कहरवा ताल लगता है।

कुछ क्षेत्रों में राई को कहरवा का गायन कहते है, कहरवा गीतों में राई की तरह केवल श्रंगारिक रचनायें स्थान पाती है हास्य और भाांत या भक्ति की कम ही

होती है, कहरवा गीत स्त्रियॉ या पुरूश सामूहिक रूप में गाते है पुरूशों के गायन में मृंदग या ढोलकी, टिमकी, मंजीरा, आदि लोक वाद्य संगत करते है, जबकि स्त्रियों के गायन में ढोलक और मजीरा, यह गीत विलंबित, मध्य और द्वित, तीनों लयों में गाया जाता है, इसमें कहरवा ताल लगता है।

सागर दमोह और नरसिंहपुर जिलों में राई नृत्य के साथ ख्याल गायन किया जाता है, इसे पुरूश समूह रूप में गाते है, अधिकतर श्रंगार रस की रचनायें भी गायी जाती है, ख्याल को बिलंबित मध्य और द्वित तीनों लयों में गाते है, इसे एक गायक उठाता है, और अन्य गायक आगे बढ़ाते है, इस गायकी में मृदंग टिमकी और मजीरे संगत देते है इसमें दादरा ताल लगता है।

स्वांग लोक गायकी

श्रंगार रस की रचनाओं का गायन स्वांग गायकी द्वारा होता है, स्वांग गीत पुरूशों द्वारा गाया जाने वाला समूह गीत है, इसका गायन उत्सवों के अवसर पर या भाादी के अवसर पर या अन्य किसी भी मनोति पूरी होने पर राई में विषेश रूप से स्वांग का गायन आयोजित होता है, इस गीत में मृंदग टिमकी मजीरा और अलगोजा संगत करते है, इस गीत का गायन अधिकतर द्वित लय में होता है, और दादरा ताल लगता है, स्वांग गायकी का सहारा राई लोक नृत्य में सबसे ज्यादा गाया जाता है।

बुंदेली लोक गायकी का उद्‌भव और विकास

मैने अपने इस भाोध कार्य में बुंदेली लोक गायकी का उद्‌भव और विकास ने बुंदेली लोक के प्रचीन रूप की खोज करने का पूर्ण प्रयत्न किया है और सिद्ध भी करने का पूर्ण प्रयास किया है कि उसका काव्य रूप लोक गीत का ही था जो नृत्य गीत परख था उसमें नृत्य और संगीत का ऐसा मेल था जैसा की नृत्य गीत परख रास में होता है, उसके मौखित परंपरा 10 वीं सदी से प्रारंभ हुई होगी क्योकि बाहरवीं सदी के जगनिक कृत्य लोकगाथात्मक महाकाव्य से आभासित होता है कि उस समय अख्यानक फाग गीतों का सृजन हुआ होगा लेकिन विदे ाी आक्रमणों के कारण रचनाओं के नश्ट होने से प्रमाणिक सामग्री उपलब्ध नही होती, फाग की दूसरी दि ाा दोहा छंद को केन्द्र में रखकर चली दोहा अपभ्रंश का लाड़ला छंद था, और श्रंगार में अपनी श्रेश्ठता सिद्ध कर चुका था उसका उत्कर्श 9 वीं 10 वीं सदी में हुआ होगा, अतःएव ऐसे छंद को लोक ने अपना लिया और उसमें एक लटकनिया लगाकर भाग का रूप दे दिया, दुमदार दोहो के प्रयोग सूर्य और नंददास जैसे कवियों में मिलते है, जिनसे स्पश्ट है कि 15 वीं सदी से पूर्व लोक काव्य में उनका खूब प्रचलन रहा होगा, और विश्णुदास, सूरदास आदि ने उन्हें वही से लिया था, इस फाग रूप को बुंदेली में सखियाऊ या साखी की फाग कहते है इस गायकी का परिवद्धित रूप डफ या ढप की फागे है जो ढफ या ढप वाद्यय के प्रयोग होने पर विकसित हुई होगी, बुंदेली राई गीतों में एक प्रकार के दोहे का प्रयोग होता है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है, कि पुरानी

राई सखयाऊ फागों से ही निकली थी, और बाद में दोहा के लुप्त होने से एक पक्ति की रह गई।

इन उदाहरणों से पता चलता है कि बुंदेली फाग और फाग गायकी कोई नई घटना नही है जो 21 वीं सदी के भूमिगत से अचानक फूटकर निकली हो वरन उनका एक लम्बा इतिहास है जो छंद संगीत और काव्य से जुड़कर कई उतार चढ़ाव देख चुका है, इसी विकास ील इतिहास के कुछ पड़ावों पर बुंदेली फाग में अपनी नये नये रूप गढे है, जिनके बारे में संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत करूंगा उसके पहले दो बातें कहना जरूरी है एक तो यह कि उपयुक्त उदाहरणों से यह निर्णय लिया जा सकता है कि लोक साहित्य, लोक काव्य, और लोक संगीत आदमी के जीवन के तरह ही विकासशील है अंतःएव इन्हें आदिम या स्थिर कहना अनुचित है, जिस तहर लोक जीवन कुछ दूरियों पर अपनी विविधता रखता है उसी तरह बुंदेली फाग के रूपो और उनकी गायकी में भी क्षेत्रगत भिन्नताऐं नि चत है, उनसब विविधताओं के बीच बिना हो सकता है कि मेरे इस विवेचन में विशाल बुंदेली प्रदेश का एक क्षेत्र अपनी समानताऐं पा सके दूसरा नही दूसरी बात यह है कि भाास्त्रीय तत्व जैसे भाब्द में व्यक्ति दोश है।

पुरानी फाग

पुरानी फाग कोई विशिष्ट नामकरण नही है, मैने उसे लोकगीत रूप में बची उस फाग के लिये कहा है जो फाग के आदिकाल में रही होगी, यह कई धुनों में मिल सकती है अवशिष्ट और वर्तमान में प्रचलित ऐसी पुरानी फागों में कौन आदिकाल की है, और कौन मध्यकालीन है यह निर्णय कर पाना सरल नही है।

सखयाऊ फाग

यह फाग रूप दोहे में लटकनियॉ लगाकर बना है दोहा जहॉ अपभ्रश का प्रिय छंद था वहां अभिरो से भी उसका संबंध था छंट भाास्त्र में 11 मात्राओं के चरण वाला आभीर या अहिर छंद मिलता है, इसका विकास भी दोहे के रूप में संभव है।

उदाहरण:–

सबके सैयॉ नीरे बसत है, मो दुखन के दूर।

घरी घरी में चाना है, सो हो गये पीपरा मूर।

नज़र से टारे टरो नई बालमा।।

चुनरी रगी रगरेंज ने, गगरी गढ़ी कुमार।

बिंदिया गढ़ी सुनार नें, सो दमकत मॉझ लिलार।

बिंदिया तो लै दई रसीले छैल ने।।

ढप की फागें

दफ अरबी भाब्द से डफ या ढ़प बना है संभव है कि यह वाद्य मुसलमानों या पठानों के आने के बाद ही प्रचलित हुआ हो, इस फाग के गायन में ढ़प के प्रयोग से ही इस फाग का रूप का नाम रखा गया हो

हरे पाठ के फूंदना, मनमोहना।

कहॉ धराऊॅ तोय, पिया अड़ घोलाना।

गंगाजी की रेत में, लंबे लगे बजार पिया अड।

घोलाना। हरे..

इक गोरी एक सॉवरी दोउ बजारे जॉय। हरे....

कोना बिसा लए काजरा कौन बिसा लय पान। हरे ....

गोरी बिसा लय काजरा राधे बिसा लय पान। हरे....

किनके ढुर गये काजरा राधे बिसा लय पान। हरे ...

गोरी के ढुर गये काजरा राधे के खा गये पान। हरे....

यह भी संभव है कि मनमोहन और पिया अड़ घोलानाके स्थान पर अन्य तुके भी जोड़ी जाती हो।

चौकड़िया की फाग

चौकड़िया की विशेशता यह है कि उसके प्रथम चरण में 16 मात्राओं पर यति है और उसका तुकावर्ण ही हर चरण के तुकात में आना जरूरी है

जो तुम छैल छला हो जाते, परे उँगरियन रते

मॉ पोंछत गालन खॉ लगते, कजरा देत दिखाते।

घरी घरी घूंघट खोलत में नज़र सामने रातें।

ईसुर दूर दरस के लाने ऐसे काय ललाते।

खड़ी फाग

चौकड़ियॉ फाग के प्रत्येक चरण में परार्द्ध में दो मात्राऐं और बढ़ा देने से 30 मात्रा की खड़ी फाग बनती है,। प्रथम चरण में चौकड़िया की तरह 16 मात्रा पर यति होती है, इस तरह 1614 मात्राऐं होती है, चरणों के अंत में दीर्घ अव य रहता है। खड़ी फाग के जन्म दाता ईसुरी के समकालीन स्व. गंगाधर व्यास है, जो रीति कालीन प्रवृत्ति से प्रभावित होकर फागों में चमत्कार का समावेश करने में सफल हुये, इसकी एक खड़ी

फागः—

दिन ललित बंसती आन लगे

हरे पात पे पियरान लगे।

घटन लगी सजनी अब रजनी,

रवि रथ ठहरान लगे।

उड़न लगे चहू ओर पताका,

पीरे पट फहरान लगे।

बोल मौर कोकला कूकै,

आमन मोर दिखान लगे।

गंगाधर ऐसे मे मोहन किन,

सौतन के कान लगे।

होरी की फाग

फाग की गायन भौलीयों में एक है होरी की फाग जो होरी के अवसर पर गायी जाती है, इन गीतों में राधा–कृश्ण और गोपियों द्वारा होरी खेलने का वर्णन एवं अन्य होरियाऊ फागे इन गीतों को पुरूश वर्ग का समूह गायन करता है, एक कोई गायक फाग उठाता है और भोश उसे दोहराते है, पहले से मध्य लय मे गाते है फिर धीरे धीरे द्वित में पहुच जाते है,

होरी होरी होरई बृज में,
होरी कन्हैया खेले लाल।
कै मन रंगा घोरो बृज में,
के मन उड़त गुलालई लाल।
नौ मन रंगा घोरो बृज में,
दस मन उड़त गुलालई लाल।

राई की फागः– राई नृत्य के साथ या तो राई नृत्य गाये जाते है या राई की फागे राई की फाग श्रंगारिक होती है भले ही रूप सौंदर्य का चिंत्राकन करें या दामपत्यपरक संबंधों का वह मध्य लय और दादरा ताल में गायी जाती है, पर धीरे धीरे उसकी लय द्वित हो जाती है मृंदग, टिमकी, मजीरा, अलगोजा, रमतूला आदि लोक वाद्य उसकी संगत करते है, राई की फाग अधिकतर सागर, दमोह, नहसिंहपुर जिलों में ही गायी जाती है, यह राई गीत से मिलती जुलती है।

अरे का गये रे उदल मलखान
अरे का गये रे बछेरा रसबेंदुला।

लेद की फाग

लेद की गायकी बीसवीं सदी के प्रथम चरण में दतिया की देन है दतिया के प्रसिद्ध गायक कमला प्रसाद ने लेद का अविश्कार किया था, और कालका प्रसाद एवं लल्लन जू ने उसका समर्थन किया था।

एक उदाहरण देखेः–

कीसैं कइये जी के साके।

चाउन नयी बहार नये, झौंका रसभरी हवा के।

महुअन के बे फूल बोल बे, मीठी कोइलिया के।

टीलन के ककरा पथरा बे, डॉगन हरीतमा के।।

झूलना की फॉग

इस फाग रूप में डेढ कड़ी होने के कारण इसे डिढ़–खुरयाऊ भी कहते है खुर का भाब्द का फाग के चरण का संकेत करता है, प्रथम चरण में अहिर छंद या दोहे के सम चरण के पूर्व दो मात्राऐं जोड़ी गयी है, जिससे प्रतीत होता है कि वह राई के प्रथम चरण का विकास रूप है।

ब्याहन आये राजाराम,

जनकपुर हरें बॉस मंडप छाये, अरे हॉ, हरे।

गायकी में कुछ व्यापकता मिलने पर यह फाग रूप कई कडियों का लम्बा होता है अतएव इसे डिढ–खुरयाऊ कहना उचित नही है, मैं यहा एक ऐतिहासिक फाग दे रहा हूँ,

ढुँड़वा लैयो राजा अमान,

हमारी खेलत बेंदी गिर गई। अरे हॉ, हमारी।

सखी री मोरी कौना सहर की जा बिंदिया,

भलॉ कहना की धरी है रबार, हमारी।

सखी रे मोरी झॉसी सहर की जा बिंदिया,

भलॉ पन्ना की धरी है, रबार, हमारी।

सखी री मोरी कैसें गिर गई जा बिंदिया,

भलॉ, कैसे है झरी जा रबार, हमारी।

सखी री मोरी खेलत बिंदिया गिर गई

भलॉ, गिरतन झरी है, रबार, हमारी।

गायन भौली का बुदेंलखंड में काफी प्रचलन है जिसमें कई प्रकार की गायकियॉ देखने को मिलती है, पूर्ण गायकियों को ढूढना संभव नही हो सकता है, क्योकि इसकी हर बीस कोस पर बोली, बानी और गायकी बदल जाती है, जिस कारण किसी एक लक्ष्य पर पहुच पाना संभंव नही है।

बुंदेली के ख्याल या लावनी की रचना या गायन के लिये छतरपुर में गंगाधर व्यास ने एक तुर्रा दल का गठन किया था, जिसमें दसानंद, भैरवसिंह, कंधई, लछमन और रामदास दरजी प्रमुख गायक एवं रचनाकार थे। चरखारी नरेश, गंगासिंह जू देव ने भी तुर्रा दल के एवज अली, भाफदर अली, उर्फ गणेश शंकर सुदामा भैया, वंशगोपाल आदि को आश्रय दिया था, मऊरानीपुर में कलगी दल का गठन हुआ जिसमें दुर्गा पुरोहित, गणपति प्रसाद चर्तुवेदी, घन याम दास पाण्डे आदि थे।

उदाहरण :–

चली जा रई है चाल मरोरा की। टेक।।

मुखभर पान नैनन में कजरा

नैनन भर कजरा उर गरे में गजरा

उर कमर में करधौनी बौरा की। चली0।।

जब कहुँ गोरी धना जाबै बजारै

अगल बगल में ऐसे निहारै

जैसें हेरन होय चकोरा की।चली0।।..

उदाहरण क्र. – 2:–

काजर लगाओ चाय रोरी, मन की नइयॉ गोरी।

हॉ हॉ रे मन की नइयॉ गोरी।टेक।।

हल्की प्रीत जा छलकै भारी, रहत दिनन की थोरी रे, मन0।

तन के सॉचे हमम न के सॉचे, तुम तो हौ रंगबोरी रे, मन0।

उदाहरण क्र. 3 :–

मोरे पूरब पिछले भाग री मोये पिया मिले फागुन में।

रंग अबीर ज्ञान की रोरी, फेंक रहे पिया भर भर झोरी

मोये धब्बा लगे न दाग री मैं हो जाऊ बेदागन में।मोरे0।।

जो तुम पाग रंगो पिया रंग में, मैं भी चीर रंगूँ तेरे रंग में।

जहॉ बजे छतीसों राग री, मै। हो जाऊँ बैरागन में।मोरे.।।

वंसतोत्सव से संबंधित लोक गीत तो प्रायः समस्त राज्यों भाशाओं में देखने को मिलते है, क्योंकि गीतो की परंपरा सम्य असभ्य सभी जातियों में मौखित अनंत प्राचीन काल से चली आ रही है जब से बोल चाल के विभिन्न प्रादे िक अपभ्र ों में नव्य भारतीय भाशायें तथा बोलियॉ उत्पन्न हुई होगी तभी से उनमें लोकगीतों की रचना का भी आरंभ हो गया होगा, उन्हीं गीतों में हमें काव्य धारा के मूल प्राकृतिक स्वरूप का परिचय मिलता है, पूर्वी तथा पश्चिमी हिन्दी की ग्रामीण बोलियों में तथा हिन्दी के क्षेत्र से बाहर की माने जाने वाली बोलीयों में तो बसंत गीत मिलते ही है इनके अतिरिक्त अंत प्रांतीय भाशाओं और बोलियों में भी इसकी छटा के द ान देखने को मिलते है, बुंदेली फाग साहित्य के कुछ भाशाओं और बोलियों के गीत दिये जा रहे है, बुंदेली का फाग साहित्य भी इन्हीं पर आधारित है विरह–विदग्धा के दो चित्र दिये जा रहे है,

प्रथम में तो उसकी सामान्य कथा का वर्णन है और दूसरी में वह काग की कॉव कॉव को सुनकर पति के आगमन की आ ा से उसकी चोच को सोने से मड़ा देने का प्रलोभन दे रही है।

कुटल कुसुम नव कुञज कुटीर बन, कोकिल पंचम गाये रे।

मलयानिल हिम सिसर सिधारन पिया निज देश न आये रे।

चनन चान तन अधिक उतामय उपवन बलि उतरोले रे।

समय वसंत कन्त रहु दुर देश जानत विधि प्रतिकूले रे।

अनमिल नयन नाह मुख निरखत तिरपित न मेल नयाने रे।

ई सुख समय सहए एत संकट अबला कठिन पराने रे।

दिन–दिन खिन तनु हिम कमलिन जनु. न जानि कि जिब परजत रे।

विद्यापति कह धिक–धिक जीवन माधव निकरूर कत रे।।

मोरा रे अंगनमा चनन केरि गछिवा ताहि चढ़ि कुरूरय काग रे।

सोने चोंच बांधि देव तोयं बायस कओं पिया आओत आज रे।

गावह सखि सब झूमर लोरी मयन–जरावत जाऊ रे।

च आदिश चम्पा मऔलि फूललि चान इजोरिया राति रे।

कइसे कय मोय मयन अराधब होइति बड़ि रति–साति रे।

विद्यापति कवि गावत सोहर पहु अह गुनक निधार रे।

राओ भोगीसर सब गुन आगर पदमा देश रमान रे।

एक भोजुपरी गीत का उदाहरणः–

वसुदेव प्रभु चकरधारी, सहरे कोरोम्बा खेलवाएं होरी

केहु जे लिये लए अछद चन्दनवा, के जे लिये लय अबीर रोरी।

राधा जे लिए लए अछद चन्दनवा, रानपी जे लिये लए अबीर रोरी।

एक अन्य उदाहरण में छोटा नागपुर के अंतर्गत मुन्डा जैन जाति बसी हुई है जहॉ इसे प्रकृति का पूर्णसहाचर्य प्राप्त है, उनके गीतों में प्रतीको उपमानों और आलम्बनों का महत्वपूर्ण स्थान है, बसंत कालीन श्रंगारप्रियता गृह मिलन की अनुभूति यहॉ, दिनरात नाचते रहने की प्रवृत्ति मुण्ड जीवन के ये आधार भूत तत्व मुण्डा लोक गीत पर बड़ी तीखी चुटकी लेता है, निम्नलिखित लोक गीत से यह स्पश्ट होता है:–

टामागा सृपीद् दोना माई बण्डा मयलो पड़ा गोवा।

अमागा पैला दोना माई, संगिड़ी सान घोलोवा।

तुमने इतना बड़ा खोपा बनाया है के इसे फाड़ कर हल बनाया जा सकता है इतना बड़ा अंचल यफहरा रहा है कि इसमें गाड़ी भर लकड़ी बांधी सकती है। निम्न गीत में पानी भरने के लिए जाती हुई मुण्डा युवती की छवि अंकित की गई है।

हिंडा सौभय तइके, फूलइ तेगेम चवाजना,

पोला तम दोना.... मइना निरल सड़ितन।

मइनम लन्दा तन गे।

बिन्डइ्ञ चेतन हसा चटु सनत दम्ना....

मइना जिड़िब जिड़िब ननने, मइनम लन्दा तन गे।

मयड् रेदो नीले साड़ी, साड़ी तदम और तान गे।

लेलोः तनमनाल ... मइना कदल दारू लेका।

मइनम लन्दा तन गे।

यौवन का समय है। तुम रूप–मन्द में फूल रही हो तुम्हारे पैर की अंगूठी से चिड़िब–चिड़िब की मधुर ध्वनि आ रही है। तुम्हारे सिर पर सूत का बिड़ा बिड़े पर है माटरी का घड़ा। तुम चली जा रही हो। तुम्हारे पैर की अंगूठी से चिड़िब –चिड़िब ध्वनि आ रही हैं। तुम केले के पेड़ सी झूम रही हो। बौरी कन्या तुम मुस्कुरा रही हो।

रूप–गर्विता का एक ऐसा ही चित्र बुंदेली कवि ईसुरी ने निम्न फाग में अंकित किया है।

ऐसौ बदन बनों बॅधवारौ, रजउ कौ डील दुआरौ।

पिंडरी चढ़ी मसीली जांगे, कव्जन ओर निहारौ।

औलें तिहरी परें पेट में, माफक कौ थुॅदवारौ।

गोरे अंग स्यामली सारी, लगै लिपटतन प्यारो।

ईसुर चलीं आउती जैसें, गज धूंमत मतवारौ।।

रजउ का दुहरा और बना हुआ गठिला बदन है इस कथन में नायिका की श्रम भीलता व्यंजित है।

राजस्थान में फागों भुक्ला दस से घीदड़ नृत्य का आरंभ हो जाता है, जो होली पूजन तक चलता है, यह रात्रि में चार–चार घंटे तक चलता रहता है एक व्यक्ति नगाड़े को डंडे से मारता हुआ लगे डंका घले घीदड़ का नाद गुंजायमान होता है, इनका यह नित बुंदेलखंड के दीवाली नृत्य की भांति गुजरात के गरवा रास की भांति डंडो के साथ चलता रहता है, एक होली गीतः–

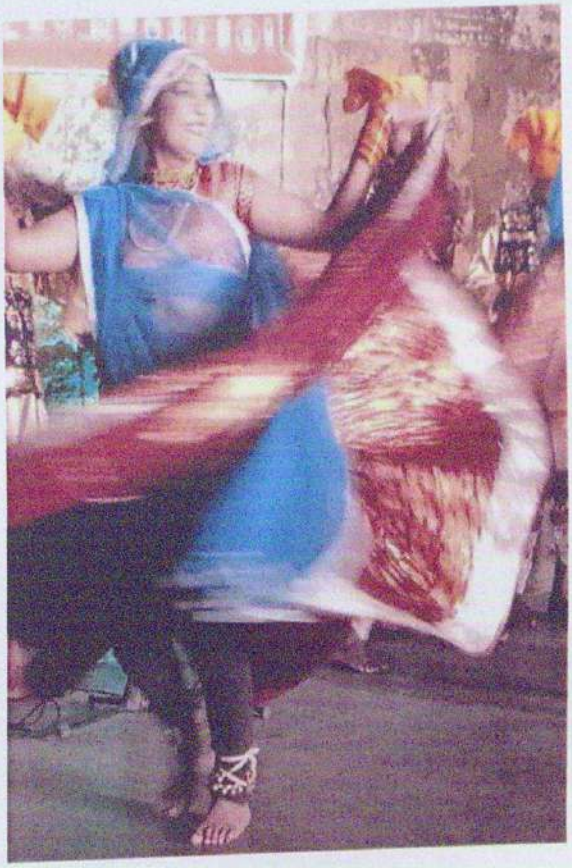

होली आई रंगीली रूत लाई।

रमण न चालौ खेलन न चालो जी।

फागण की रूत आई, मिलजुल के खेलो भाई।

बजे रंगीली ढप बाजै रसीली ढप बाजे जी।

भर पिचकारी भींग गई मेरी साड़ी,

रातो बोली या कैसी होली।

मानो मानो जी कुँवर कन्हाई, रंगीली रूत आई जी।

उड़े–उड़े गुलाल, सारा होग्यो बेहाल, गावे गावे देताल,

होली आई जी।

एक गुजराती भाशा में भी फागुन की अनोखी छठा देखने को मिलती हैः–

सखी चलौ सांवला थीं रमियें होली।

लाल के पाणों ने ग्वाल घणा छे राधा अकेली ने भोली।

ई ने साथे सो सुन्दरियां, बॉधी बॉधी ने टोली।

लाल गुलाल नाथल भरो बी अबीर ने झोली।

केसर, कुंकुम, अतर, अरगजा, ले चालो रंग घोलो।

राधा माधव होली रमशें आपण ऑख मिचौली।

ए तीनों डंडा डोल करशें ई ने पाट पटोली।

नगर प्रभु ना अंगना ऊपर, गागर रंग नौ ढोली।

तै छवि निरखीं हरखीं मनमां करोशे सौए ठिठोली।

बुंदेली के फाग गीत उपयुक्त गीतों में से किसी दृश्टि में भी पिछड़े हुये नही मिलेगे, बघेली गीतों के ढंग के मिलेगे कुछ बृज के रसियों जैसे तथा कुछ मीरा, चंद्र सखि तथा संत कवियों के पदों के आधार पर मिलेगे।

एक उदाहरण बघेली गीत का, बघेली गीत भी इसी भौली के पाये जाते है जो अंत और वाह रूप में प्रायः रसिया और फागो जैसे ही होते है, होली के अवसर पर गाये जाने वाले एक–एक दो–दो कड़ी के ही मिलते है।

केसर का उड़े फुहारा कदम तर, भींजे सांवरी मूरत।

कै मन केसर तोहरे बिरज मा, कै मन उड़े फुहारा,

कदम तर भींजे सांवरी मूरत।

नौ मन केसर हमरे विरज मा, नौ मन उड़े फुहारा।

कदम तर भींजे सांवरी मूरत।

सांवरिया का आना जाना नित,

राधे का बगैचा गैलनमा।

छूटि केस पर लोरे रे भंवरा,

छूटि केस पर लोरे ला।

एक बुंदेली गीतों का उदाहरण

नई गोरी नये बालमा, नई होरी की झॉक।

ऐसी होरी दागियो, तोरे कुल को न आवै दाग।

समर के यारी करो मोरे बालमा।

उदाहरण क्र. 2:–

मौ पे रंगा न डारो भयामलिया।

मैं तो ऊसई रंग में डूबी लला, मो पै रंगा न डारो स्यामलिया।

काये को जो रंगा बनायो, काये की पिचाकरी लला। मो पै रंगा0।

केसर को जो रंगा बनायो, हरे बांस पिचकारी लला। मो पै रंगा0।

भर पिचकारी मोरे सन्मुख मारी, भीज झूना सारी लला। मो पै0।

जे सुन पाहैं ससुरा हमारे, आउन न दैहैं बखरिया लला। मो पै0।

जे सुन पहैं जेठा हमारे, छूंअन न देहैं रसुइआ लला। मो पै0।

जे सुन पाहैं सैया हमारे, आउन न देहैं सिजरिया लला। मो पै0।।

एक छन्दयाऊ फाग का चित्रणः–

ब्रज में हो रई फाग सुहाई, चलौ देखिए भाई।

छनद जुमना के ती, गोपिन की भीर, मारत अबीर, भर – भर झोरन।

लई पिचक खींच, हो गयौ कीच, ब्रज बीच– बीच, गलियन खोरन।

उड़ान–रंग की मार मचाई।

टेक– भये सरबोर गोप अरू गोपी, रहे सकल मिल गाई। ब्रज0।

छनद– बजे बीन चंग, मुहचंग संग, ढोलक मृदंग, सम से गावैं।

हो रऔ उमंग, दिल हो दंग लै लै कैं रग हरि पै धावैं।

उडान– लीला करत कन्हाई।

टेक– लैकैं राधे के गालन पै, लाल गुलाल लगाई। ब्रज मे0।

ज्सुदा कुमार, ब्रज में मुरार, नित नई रार, प्रभु चरित करें।

उड़ान– भक्तन के सुखदाई

टेक– भुजबलसिंह के चरन के सेवक रह गए ध्यान लगाई। ब्रज में0।

छनद– रये हाथ जोर, सुन अरज मोर, नन्द के किसोर, करदे मरजी।

मैं हूं अजान, जानों न ज्ञान, करूना निधान, सुनिए अरजी।

उड़ान– करिये सदा सहाई।

सो करिए सदा सहाई, ब्रज में हो रई फाग सुहाई लाल।

ऊपर इन सभी वंसतोत्सव संबंधी विभिन्न फागों के वर्णन दिये गये है, अब अन्य भाशाओं के तथा स्वंय बुंदेली के स्वयं अवसर के लोकगीतों के साथ साथ ही फाग साहित्य का थोड़ा सा वर्णन किया जाये,

विधना, घरै सौत ना आवै, इतनी बात बनावै।

ऑखन दखत पीतम को चित, अपने हात चुरावै।

दो दिल डार खटाई अपनो, तुरत पराव दिखावै।

स्यामन सौत भली चूनऊ की, निस दिन जराबै।

फाग साहित्य श्रृंगार रस की बहुलता और अ ालीलता के लिये बदनाम रहा है, इस विशय में थोड़ा विचार कर लेना आवा यक है, अशलीलता का अर्थ है ऐसे भाब्दादि जो सहृदयों को आकर्शित न कर सके श्रियं सहृदय वशीकरण– सम्पित लाती, इस व्युत्पत्ति में पार्णिन के आतोअनुपसर्गे सूत्र से "क" प्रत्यय होने पर अशलील भाब्द बनता है जिसका अर्थ होता है सहृदयों को वश में करने वाला इससे जो भिन्न हो वह है अ ालील तथा इसके भाव को अशलीलता कहेगे। जैसे घृणा और अमंगल की व्यजंक होने के कारण इनके तीन भेंद है ग्राम गीतों में नागरिकों की वह सभ्यता या सहृदयता नही खोजी जा सकती है,

उदाहरण :–

तुम तो भोर सासरे जातीं, का कऔ हम सैं कातीं?

तुमखां चैन चौगुनी होनें, लगौ बलम की छातीं।

जो जा बाह गही ती तुमने, कियै गहायें जातीं।

देत अशीश व्यास "गंगाधर' बनीं रहौ ऐबाता ।।

फाग नृत्य या नर्तकी के द्वारा किया जाने वाला नृत्य

फाग उत्सव तथा फाग गायको के फागुन के माह मे फाग के अवसर पर फाग गीतों के साथ नर्तकी द्वारा नृत्य प्रदर्शित किया जाता है जिसे लोग लोक नर्तकी के रूप में जीवन निर्वाह करने वाली नर्तकी को राई कहते है अतएव फाग नृत्य को नर्तकी के द्वारा संपन्न किये जाने के कारण नर्तकी को राई नृत्य भी कहते है, अतः इनकी द्वारा गायी जाने वाली फागो या अन्य गीतों को भी राई कहते है, ये नर्तकीयॉ पूरी रात नृत्य करती है, जहॉ इनका नृत्य होता है वहां आसपास के ग्रामों से द र्कों की अपार भीड़ तथा फाग मंडलीयॉ अपने अपने वाद्ययंत्रों साजों के साथ एकत्रित होते नृत्य के लिये एक लंबा सा मैदान घेरकर उसके तीनों तरफ द र्क लोग मैदान में जमकर नर्तकी के नृत्य को देखने के लिये बैठ जाते है एक तरफ सौबत अपनी

गायकी से नृत्य का प्रारंभ करती है, नृत्य का आरंभ कभी नर्तकी के द्वारा उठाई गई सुमरनी फाग से होता है तो कभी फाग मंडलियों द्वारा सुमरनी की फाग से राई नृत्य का प्रारंभ होता है, नर्तकी नृत्य करती हुई द्रुत गति से मंडली के सामने नाचती हुई चली जाती है, मशालची अपना मशाल लिये उसके पीछे–पीछे दौड़ता है यह नृत्य ग्रामीण क्षेत्रों में रात्रि के संध्या के समय से प्रारंभ होकर सुबह तक चलता रहता है, इसी नृत्य के समान मणिपुरी नृत्यों में जैगोई नाम नृत्य के दूसरे भाग भागीपालन जिसमें नारी भारीर की विविध चेश्टाओं और भंगिमाओं का प्रद ान किया जाता है, वह नृत्य राई नृत्य से मिलता जुलता है, इसमें समाई डयौढ़ी, पौनी और दूनी तिगुनी लय देखने को मिलेगी इस अवसर पर प्रायः सभी गायक मंडलियॉ क्रमशः श्रंगार रस की फागे गाती है, साथ ही नृत्य चलता रहता है, यह बुंदेलखंड के विभिन्न गॉवों क्षेत्रों में महीनों यह नृत्य चलता रहता है, इन आयोजनों में गायी गई फागें विभिन्न सैकड़ों लोगों को कंठस्थ हो जाती है आचार्य इसुरी की फागों का उन्हीं की प्रेयशी रंगरेजिन नर्तकी ने बड़ा प्रचार किया था उनकी श्रृंगार रस की अधिकांश फागे उसी को लक्ष्य कर लिखी हुई जान पड़ती है, इस प्रकार फाग साहित्य के श्रृजन और विकास यह नृत्य बड़े प्रेरणाप्रद सिद्ध हुये है, तथा इसका साहित्य को लोकप्रियता के संवर्धन का श्रेय भी प्राप्त होता है।

इसी प्रकार इन कवियों ने नेत्रों को तलवार संगीन शिकारी और कसाई आदि न जाने क्या क्या कह डाला है यहाँ ईसुरी की एक फाग उदाहरण स्वरूपः—

दोऊ नैनन की तरवारें, प्यारी फिरैं उबारें।

अलेमान गुजरात सिरोही, सुलेमान झक मारें।

ऐचें बाड़ म्यान घूंघट की, दै काजर की धारें।

ईसुर भयाम बरकते रइयौ, अन्धयारे उजयारें।

दोऊ नैनन की तरवारें, जात बेदरदिन मारें।

लम्बी खोर दूर लौं डाटें ठाढ़ी हती उबारें।

दुबरी दशा देह की हो गईं, हिलत चली गईं धारें।

गंगारधर बस होत सुधर पै, बैरहमन से हारें।।

ख्यालीराम तो नेत्रों के स्थान पर उनके व्यापार की करामात का वर्णन कर रहे है —

हेरन खड्ग धार सो पैनी, देखत भई बेचैनी।

मीन, मलीन, दनी गति खंजन, गंजन मंद मृगनैनी।

ऐसी दई रूचिरता विध नें, चन्दा रूप न बैनी।

'ख्यालीराम' पाय ऐसौ तन, काए बनत अदैंनी?

वास्तव में ये चौकडियॉ फागे रीतिकालीन कवियों की परंपरा का अपनी स्थानीय बोली में उच्छ्वास मात्र है। इस साहित्य के प्रमुख लोक कवियों की रचनाओं पर रीति कालीन के कवियों की रचनाओं का स्पश्ट प्रभाव है।

मनुश्य इस संसार में आकर अनेक प्रकार के उपभोगो एवं आनंद का रसास्वावादन करता है, अनेक प्रकार के उत्सवों को संपादित करता है, उन्ही उत्सवों के अवसर पर आनंद और हर्श से उन्मत हो स्त्रियों अथवा पुरूशों द्वारा जो गीत लोक भाशा में गाये जाते है, उन्हीं गीतों को लोकगीत कहते है, ये लोक गीत अनेक प्रकार के नामों से प्रसिद्ध है, विभिन्न अवसरों एवं संस्कारों के समय गाये जाने वाले गीतों के भिन्न भिन्न प्रकार की संज्ञाऐं प्रदान की गई है, फाग गीत भी आरंभ में होली के अवसर पे गाते जाये रहे है, पर जैसा की बतलाया जा चुका है कि ये गीत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर अपना अधिकार जमा चुके है, इन गीतों में भी लोक जीवन का बड़ा महत्व और भावपूर्ण चित्रण मिलता है, फाग साहित्य में लोक जीवन के प्रतिबिम्ब की व्याख्या अनेक प्रकार से मिलती है, जो लोक जीवन की अध्यात्मिक अनुभूति और लोक जीवन की व्यापक अनुभूति होती है, लोक जीवन में अध्यात्मिकता का महत्व श्रृश्टि के प्रारंभ से ही रहा है, मानव ने अपनी ऑखें खोली तभी से उसने इस संसार को रहस्यमय अनुभव किया, और तभी से मानव के मन में अदृश्य सत्ता के प्रति एक पावन श्रृद्ध वि वास और भय समाया हुआ है, बात भी सत्य है, इस ब्रमहण्ड के संचालन की प्रक्रिया को देखकर यह तो मानना ही पड़ता है इससे परे एक भाक्ति है जो इस

ब्रम्हण्ड को इतने सुचारू रूप से संचालित करती है और इसी भाक्ति की पूजा मानव अपने विश्वास और श्रृद्धा के अनुसार विभिन्न प्रतीकों के रूप में करता है। अध्यात्मिकता के क्षेत्र में मानव ने काफी खोज की है विभिन्न राश्ट्रो की विभिन्न जातियों ने अपनी बुद्धि और प्रतिभा के अनुसार इस भाक्ति की व्याख्या की है, परंतु भारत ने इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का जो चमत्कार प्रद ित किया है वह आप्रतिम है दर्शन का मानव जीवन में क्या महत्व है मानव ने अध्यत्म भूमि पर खड़े होकर जब जीवन को देखा तो उसे अनुभव हुआ की इस लोक से परे भी एक दूसरा लोक है और खाने पीने तथा मौज उड़ाने के अतिरिक्त भी जीवन का कुछ और उद्देश्य है यह संसार उसमें एक हाट समझी जिस्म जीवन अपनी रूचि और पंसद का सौदा खरीदकर अपने घर वापिस चला जाता है और अपनी आवा यकतानुसार उसे फिर आना पड़ता है, और जिन्हें कोई आवा यकता नही होती अथवा जो अपने आप से संतुश्ट हो जाते है उन्हें फिर नही आना पड़ता इसी स्थिति को दर्शन की भाशा में मोक्ष या मुक्ति कहते है, जीवन अपने संस्कार वश इस दिशा की ओर उन्मुख होता है और जिसके संस्कार इस क्षेत्र में जितने प्रबल होते है वह उतनी सलग्नता के साथ इस ओर आकर्शित होता है परमात्माके के प्रति दृढता निश्ठा जीवन के मूल्यवान आर्दश तत्वों के प्रति उत्कृश्ठता आस्था जीवात्मा को सुख समृद्धि और भा वत् भाांति प्रदान करती है, मानव अपने विलास वैभव में उस भाक्ति की उपेक्षा कर सकता है कर

देता है परंतु जीवन की विशमताऐं और जीवन का ढलाव उस भाक्ति का स्मरण करा ही देता है।

फाग साहित्य – जैसा की हम कह चुके साधारण रूप से श्रृंगार वासना और उल्लास का प्रतीक समझा जाता है परंतु यह कथन पर्याप्त न होगा, फागकार की वृत्ति समय–समय पर जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक पक्ष की और भी उन्मुख होती रही है,

चलमन वृन्दावन में रइए, जनम लाभ कछु लइए।

जह विहरत नित जुगल माधुरी, तिनके दर्शन पइए।

भूख लगे तब बृजवासिन के, टूक मांग के खइए।

प्यास लगें जमुना जल पीकें, सुधा सुरस सुख पइए।

"सूर याम" बंसीवट बस कें, राधे–राधे कइए।

फागकार सूर याम का भक्त वृन्दावन में रहकर की अपने जन्म का लाभ प्राप्त करना चाहता है और इसलिए कि उसके आराध्य–युगल की वह लीला भूमि है। अपने प्रिय के प्रयोग की प्रत्येक वस्तु प्रिय लगती है और उससे प्रेमी तदाकार होना चाहता हैं प्रेमी अथवा आराधक की उस भावना का मूल्यांकन भौतिक दृश्टि से नहीं आका जा सकता। रसखान तो यहॉ तक कह देते हैं कि–

या लकुटी अरू कामरिया पर, राज तिहूं पुर कौ तजि डारौं।

कोटिक हू कल धौत के धाम, करील की कुन्जन ऊपर वारों।

इस भावना को क्या अर्थ ाास्त्र की तराजू पर तौला जा सकता है? प्राणी अपना बचपन खेल में बिता देता है और युवावस्था आमोद–प्रमोद और विलास के बीच खो देता है। जीवन के पारलौकिक महत्व को वह भुला देता है, पर जब उसके जीवन की गाड़ी ढाल पर पहुॅचती है तब उसे खतरा दिखाई देता है और वह भयभीय हो उठता है, उसके हृदय में पश्चाताप की भावना जाग्रत हो उठती है–

अब मैं सोच–सोच पछतानों, करूनानिधि ना मानों

जनम अकारथ बीतो जावै, ज्ञान विवेक न जानों।

धन संपति सुख में मन लागो, सोऊ ना ठहरानों।

बीती उमर मिलौं अब कैसे, कौन जतन अब आनों।

ऐसई उमर बीत गई सोंनी, जग में आप ठगानों।

इस संसार में मोह के कारण कितने नाते और संबंध स्थापित कर लिए जाते हैं, परंतु जब उसे कोई दुःख और कश्ट होता है तो उसे स्वयं भोगना पड़ता है। अंत समय में उसका कोई साथ नहीं दे पाता। उसके साथ केवल उसके जीवन के कर्म ही जाते हैं, जीवन के पाप–पुण्य ही उस का साथ देते हैं। इसका भन भी उस समय होता है जब

छूटो आज जग सें नातौ, चले कौ दै तातौ।

बैठे रए खाट के एंगर कों लओ बांट पिरातौ।

बैठो रओ संगौ समबन्धौ, भाई बन्द बतातौ।

पाछू देख लगो को संगै, भाई बन्द बतातौ।

पाप–पुण्य कौ धरौ ईसुरी, धरमराज कें खातौ।

फागकार की एक वि ाुद्ध रहस्यवादी भावना को इस फाग मं देखिए। आत्म–समर्पण और अहं की भावना का विलोक ही तो परमात्मा के साक्षात्कार की कुन्जी है।

बखरी रइयत है भारे की, दई पिया प्यारे की।

कच्ची भीट उठी माटी की, छई फूस चारे की।

बेबन्देज बड़ी बेबाड़ा जेइ में दस द्वारे की।

एकौ नई किबार किबरियां, बिन कुंजी तारे की

ईसुर चाय निकारी जिदना, हमें कौन वारे की।

प्रियतम के दिए हुए मकान में किराएदार की हैसियत से रहते है। मकान भी ऐसा नहीं है जो प्रत्येक मौसम और परिस्थित का सामना कर सके। इस भारीर रूपी मकान में दस इन्द्रिय रूपी द्वारा है, जिनमें न कोई किवाड़ है और न किवड़ियॉ ताला–चाबी का कोई प्रश्न ही नहीं उठाता जब इस प्रकार का मकान है तो उसमें रहने का क्या लोभ और क्या लाभ, जिसमें किसी प्रकार की रक्षा नहीं हो सकती उसमें रहने का क्या मोह?

जब साधक इस स्थिति पर पहुॅच जाता है तो वह स्थितप्रज्ञ की कोटि में आ जाता है और परमात्मा की भक्ति का सच्चा आधिकारी होता है और उसके वरदान का भी संसार असार है और देह भी नाशवान है–

राखों मन पंक्षी ना रानें, इक दिन सब खों जाने।

खाले पीलो लैलो दैलो, एही लगै ठिाकनें।

कर लो धरम कछु बा दिन खों जादिन होत रमानें।

ईसुरं कई मान लो मोरी, लगी हाट उट जानें।

भारतीय लोक–जीवन में कुछ पाराणिक पात्र ऐसे घुल मिल गये है कि वे भक्तों द्वारा अपने उद्धार के लिए अराध्य के समक्ष दृश्टान्त के रूप में हमेशा पेश किये जाते है–

जनजीवन के भाव अभिव्यक्त तो होते हैं, किंतु अंकित नहीं, जहॉ वे अंकित हो पाते है देश, काल और परिस्थिति की छाया उनमें चमकता है। गीतों के रूप में जहॉ। जन के भाव उठे हैं वहॉ उनके बोल बिखर कर बेकार नहीं गए हैं। खेतों, नदियों, पहाड़ों मैदानों या रास्तों में, घरों में, आपसी बातों में , विरह में वेदना में हल चलाते हुए, कोल्हू पर, युद्ध के समय, खेलकूद में या हॅसी मजाक में जहॉ भी हो अलग–अलग अवसरों पर गीत बनकर कण्ठों से फूटे हैं। और फूट कर खेलते मचलते, नए भाब्दों और छन्दों के जोड़–तोड़ के साथ कुछ समय तक टिकते अव य हैं। पीछे नये गीतों के साथ घुलते जाते हैं। नई पीढ़ी नये भाव–यही गीतों की परंपरा है। गीतों में विज्ञान की तराश नहीं, मानव संस्कृति का सारत्व और व्यापक भावों का उभा होता है। मन की विभिन्न स्थितियों ने इसमें अपने ताने–बाने बुने हैं। स्त्री–पुरूश ने थकर इसके माधुर्य में अपनी क्लान्ति मिटाई है। इसकी ध्वनि में बालक सियाने है, जवानों में प्रेम की मस्ती आई है बूढो ने मन बहलाये है, विरही युवकों ने मन की कसक मिटाई है विध्वाओं के एकांकी जीवन ने इसमे रस पाया है, पथिकों ने थकावटें दूर की है, किसानों ने अपने बड़े–बड़े खेत जोते हैं, मजदूरों ने विशाल भवनों पर पत्थर चढ़ाए हैं भौजियों ने चुटकुले छोड़े हैं और विरागियों ने उपदेशामृत का पान कराया है।

आदि काल में जिस समय सामाजिक चेतना विकास की ओर गतिशील थी उासी समय ऐसी कविता का जन्म हुआ जिसका जीवन से संबंध था। धीरे–धीरें प्रकृति के कुछ भागों पर जब मानव की विजय के कुछ आसार प्रकट हुए तब गीतों में भी

इस विजय के प्रति भावनाएँ व्यक्त हुई। प्रकृति के विकराल रूप से परास्त होकर अकेला मानव उसके सामने झुका भी है, किन्तु विभिन्न इकाईयों में इस प्रकार झुकने की अपेक्षा सामूहिक रूप से संगठित होने की समझ भी उसमें आई। संगठन का मूल्य और सामाजिकता को समझा अतः सामाजिक तत्व को व्यक्त करने वाले समूह के गीत मनुश्य के निश्कर्म को दूर करने तथा उत्साह और प्रेरणा प्रदान करने में बड़े मूल्यवान सिद्ध हुए। स्पश्ट है कि आदि काल के गीतों में मनुश्य के सामूहिक श्रम की आपसी कहानियॉ हैं। इन गीतों में सुखी जीवन और अच्छी उपज की कल्याणमयी भावनाएँ हैं। बीते युगों के निरंतर संघर्श, मानव के रागद्वेश और अभाव की छायाएँ उनमें अव य उभरी हैं। भावों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक और हृदय से निकली हुई लय के साथ होती है, जिस प्रकार अपने आप ही हरे जंगलों में पंक्षी गा उठते है ठीक उसी प्रकार लोक गीत स्वाभाविक रीति से हृदय से फूट कर निकलते हैं।

लोक गीत प्रकृति के उद्‌गार तड़क–भड़क से दूर पारदर्शी भीशे की तरह स्वच्छ हैं। सरलता, रस, माधुर्य और लय इनके गुण हैं। प्रकृति के इन उद्‌गारों को सजाने में पुरूशों की अपेक्षा स्त्रियों का अधिक हाथ रहा है। करूण, हास्य, श्रृँगार आदि रसों से भरे हुए ये गीत कण्ठों पर ही खेलते चले आ रहे हैं। समय ने इन्हें कुचलने का प्रयत्न किया, ये कुचले भी गए, पर कई अब तक भग्नाव ेशों की भॉति मौजूद हैं। गीत बनते और बिगड़ते हैं। इतिहास इनमें छिपा बैठा है। देश की तत्कालीन रीति की जानकारी हमें इन गीतों से मिलती है। मानव जाति की विराट

भाव व्यंजना इन गीतों की हर कड़ी पर जागृत हैं। इन गीतों में भाव का अषेश भण्डार है। क्षण–क्षण के भाव इनमें बॅध गए हैं। समाज का कौन सा ऐसा टुकड़ा है, जिसका रूप इन में न उभरा हो। जीवन में कोमल और कठोर की सीमाएँ इनमें मिली है। अनुभव की सादगी और सचाई इनमें खुले मुँह बोलती है। भावों की गहराई और व्यापकता इनमें ऐसे कलात्मक ढंग से घुल–मिल गई है कि आ चर्य होता है। ठीक गागर में सागर भरने की उक्ति इनके साथ घटित होती है।

एक किशोर नायिका की अभिलाशा देखिए

ये दिन गौने के कब आवें, जब हम ससुरे जावें।

वरे बलम लिवौआ होकें, डोला संग सजावें।

ग गा गुइयां गांठ जोर के, दोरे लों पौंचावें।

हाते लगा, सास ननदी के, चरनन सीस नवावें।

ईसुर कबै फलानें जूकी दुलहिन टेर कहावें।

इस फाग में लोक जीवन की कुछप्रथाओं की सुन्दर झलक देखिए। डोला सजाया जायेगा, उसमें बैठकर यह वधू ससुराल जायेगी। आज के युग में मोटर–कार अथवा तांगे–रिक्शे में विदा होती है, उसमें और पालकी डोला की बिदा में कितना अंतर है? उसमें वह आकर्शण, वे छलकती–ललकती अभिलाशाएँ कहॉ? जो पालकी

अथवा डोले के अंदर बैठी वधू को देखकर होती है। जब इन आधुनिक वाहनों का प्रयोग नहीं हुआ था तब तो मायके से ससुराल तक वधू डोले में ही जाती थी। और आज भी हमारे ग्राम्य जीवन में हमारी यह सांस्कृतिक प्रथा बहुत जगह सुरक्षित है। विदा होती वधू की गॉठ बॉधने की यह पावन रीति, हिन्दू लोक जीवन में आज भी समाई हुई है। सहेलियॉ उसे द्वार तक पहुॅचाने जाएॅगी, और जब वह ससुराल पहुॅचेगी तब वहॉ द्वार पर हत्ता। (तेल और हल्दी के लेप में हथेलियॉ डुबो कर द्वार के दोनों और भित्ति पर छाप देना) लगा कर सास और ननदों के चरणों पर भीश झुकायेगी और वह दिन कब आएगा। जब वह फलाने जू की दुलहिन कहलाएगी। इस फलाने जू भाब्द में हिन्दू नारी के भील और सौजन्य की बड़ी मनोहारी अभिव्यक्ति हुई है और लोक जीवन की ऐसी रीति पर प्रकाश डालती है जो आज भी हिन्दू लोक संस्कृति में घर–घर में समाई हुई है। कोई भी कुल वधू अपने पति का नाम लेने में संकोच करती है। तुलसीदास जी की सीता वन जाते समय ग्रामीण स्त्रियों द्वारा राजकुमारी का परिचय पूछे जाने पर देवर का तो नाम बतला देती है, पति का परिचय संकेत में देती है–

सहज सुभाय सुभग तनु गोरे, नाम लखन लघु देवर मोरे।

बहुत बदन–विधु अंचल ढांकी, पिय तन चितय भौंह कर बांकी।

खंजन–मंजु तिरीछे नयनि, निज पिय कहो सीय तिन्ह सयननि।

सर्वेक्षण के दौरान उपरोक्त सभी जानकारियॉ ज्ञाताओं के साक्षात द्वारा प्राप्त की गई, मृदंग वादकों एवं बेड़नी के साक्षात्कार द्वारा प्राप्त की गई है।

लोक नृत्य राई की फाग गायकी (सुमरनी)

राई नृत्य गीतों की श्रृंखला में फाग या सुमरनी गायी जाती है उसके बाद स्वांग, ख्याल, कहरवा, टोरा की फाग एवं बुंदेलखंड के अन्य अंचलों में राई का स्वरूप ईसुरी की फागें विशेश रूप से गाई जाती है। स्वांग दो तरह से गाते है।

नृत्य का आरंभ सुमरनी से होता है। गीत में देवी–देवताओं का स्मरण होता है। कार्यक्रम को सफल बनाने हुत देवताओं से आग्रह किया जाता है। सौबत का ही एक कलाकार गायन भुरू करता है, उसके बाद ही संगीत एवं नृत्य आरंभ होता है।

दोहा फागः पैलऊ देवी भारदा गाईये

लईये राम के नाव...

सुमरनी प्रायः फाग से ही भुरू होती है जिसे नारदी की फाग या टोरा की फाग कहा जाता है, चूंकि इसमें नारदी ताल प्रयुक्त होता है, इसलिए इसे नारदी की फाग कही जाती है।

सुमरनीः–

गालऊं रे गौरा के गनेश, प्रथम मनालऊ माता भारदा हॉ...

या

बलखों रे सुमरों हनुमान, सुर खों सुमरलऊ माता भारदा हॉ....

फागें सुमरनी के अलावा कई तरह की गाई जाती है। जिनमें श्रृंगार रस की प्रधानता होती है। कई में भक्ति, लोकजीवन, प्रकृति वर्णन, देश–प्रेम आदि विशयों से संबंधित होती है। फाग के बाद स्वांग गायन होता हैः–

1. ''नई चुनरी के छोर, राजा करोंदा में बीद गये''
2. तरसत नैना हमारे, आजा घन याम

फागः–

दायीं भुजा रहें भालगराम,

बायीं रे भुजारे हनुमत रहें हां।

मेरी दाहिनी भुजा पर सदैव भालिग्राम रहें तथा मेरी बांयी भुजा पर हनुमान जी रहें।

ये बाजे बारे सुर से बजैयो,

मिरदंग खो दोश लगइयो ने,

मोरे भरोसे रईयो ने।

अरे ओ बाजा बजाने वाले आप स्तर ताल से ही बाजा बजाना। वादन में मृदंग की कोई गलती न निकलना। अगर सुर ताल से बजाओगे तो गलती का सवाल ही कहां होगा, अर्थात् गलती न होगी।

बहियां रे गुदवाले मोर,

भौंरा रे गुदाले गोरे गालों पै हां।

बंह पर गुदना गोदने वाले से मोर लिखवा लेना तथा अपने गोरे गाल पर भंवरा अंकित करा लेना।

मोरे अंगनवा में गुलगैदा,

भौंरा फिर–फिर जावे रे,

भैरा फिर–फिर जावे रे,

भौरा फिर–फिर जावै रे।

मेरे आंगन में गैंदा फूला है, उसकी खुशबू से भौंरा पराग लेने हेतु बार–बार मंडरा रहे हैं।

लिख दइयो रे भालकराम,

गिरधारी रे गालो लिखो हां।

बांह पर भालिगराम लिख देना तथा गाल पर गिरधारी लिख देना।

नीले रे धरे भयामलिया भयाम,

नीले रे भरे रे जल जमना के हां।

यशोदा नंदन कृश्ण का नील वर्ण है तथा यमुना जी के जल का भी नीला ही रंग है।

ऐसी काये लगा रये तारी भोला जागत नैया रे,

भोला जागत नैयां रे भोला जागत नैया रे,

भोला जागात नैयां रे भोला हेरत नैयां रे।

अरे भोलेनाथ ने तो तारी लगा रखी है, वे किसी से भी नहीं बोलते। पता नहीं कहीं किसी से रूठ तो नहीं गये?

बलम ने तज दईरे विह रयी असुवन धार,

बलम ने तज दई रे....

बलम ने तज दई रे, वह रयी असुवन धार,

प्रीत करी दिल जानके रे, कर पनवेसुर बीच,

अरे दिल के कपटी बे कड़े, छोड़ गये अध बीच,

बलम ने तज दई रे.....

अरे कई बलम ने तज दई रे, वह रयी असुवन धार,

प्रीत तो ऐसी कीजिए जैसे लोटा डोर,

अपनी गरों फंसायके पानी लाये बोर,

बलम ने तज दई रे, वह रयी असुवन धार....

मेरे पति ने मेरा परित्याग कर दिया, मुझे अभागिन की स्थिति बिन पानी के मछली की जैसी हो गई। उसके नयनों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है। उसने बड़ी लगन से अपने पति से प्रेम किया, पति को परमे वर माना लेकिन उसके दिल में कोई कपट आ गया तो उसने पत्नी को ही छोड़ दिया।

प्रेम तो उस लोटा डोर के सरीखा होना चाहिए जो कि डोर में लोटे का गला फंसाता है और दोनों के सहयोग से पानी भरा जाता है।

स्वांगः स्वांग गायन दो तरह से होता है, एक मुखड़ा के रूप में गाया जाता है। दूसरा स्वांग पद के साथ गाया जाता है तथा बीच–बीच में कहरवां, टोरा की फाग एवं गारी गाई जाती हैं।

केवल वह एक लाइन ही बार–बार दोहरायी जाती है। दूसरे तरह के स्वांग पदों वाले होते हैं। जिनमें पहली लाइन संगीत के बंद होने पर पद गाया जाता है। इस तरह से स्वांग पहले की तुलना में ज्यादा अच्छे होते है क्योंकि गायन, वादन तथा नृत्य में परिवर्तन आता है, जिससे एक नयापन दिखाई देता है क्योंकि मात्र एक लाईन को बार–बार गाते रहने में श्रोताओं को भी वह बात महसूस होती होगी।

वन जाने हते, कैकयी खों दोश लगाये।

बूंदा चमकें लिलार, जैसे तरा रे भुनसरिया।

टेक1: तारो महाराज, जैसे बने ऊंसई तार दे...

टेक2: धीरें–धीरें बोल कोऊ सुन लैहे सुन लेहे कोनऊ गुन लेहे।

स्वांगः

बिना पानी के पान, – 2

कैसे रहे रे मचला में।

पान के लिये पानी न हो तो वह बिना पानी के कुम्हला जाएगा।

बगिया कितनी दूर, – 2

आ रई वास बेला की।

पता नहीं बागीचा कितने दूर है, क्योंकि बेला की सुगंध तो दूर से ही आ रही है।

बन जाने हते कैकई खों दोस लगाये।

श्री राम जी को वनवास में जाना ही था, लेकिन कैकयी माता को व्यर्थ में ही दोश लगा दिया।

डोरा सात लर के, – 2

रात के मरोरा डोरा टूट गये।

मेरे कमर की करधन सात लड़ियों की बनी थी लेकिन इतनी मजबूत होने के बाद भी रात्रि में भायन करते हुए वह सात लड़ियों का करधन टूट गया।

मारे रे दशरथ ने वान,

जिनवानों रे सरमन मरे हां।

महाराज दशरथ ने मृग के धोखे में आकर बाण चलाया तो वह बाण श्रवण कुमार को लगा। बाण के लगते ही उनके प्राणान्त हो गये थे।

कहां लगा दऊ तोय रे,

अरे नारियल के बिरछा।

अरे ओ नारियल के वृक्ष में तोय कहां पर लगा दूं।

पद वाले स्वांग

गोरी विद गई मकुइया के जार रे,

गोरी बीद गई....

अरे गोरी विद गई मकुइया के जार रे,

कौना गली तोरो माई मायको, माई मायको

अरे कौन गली सुसरार रे,

गोरी बीद गई.....

पिया प्यारे बिना रे मोरो जीवन नैयां,

पियां प्यारे ....

आम पके मौवा गदराने, निब्बू रसयाने,

अरे कई के जब अनार भोरवी पै आये,

सोई टोर लये माली ने भैया,

पियां प्यारे....

पहले की तुलना में पद वाले स्वांग में गायन का ढंग, लय, पक्ष, संगीत पक्ष में वजनदारी आ जाती है। नृत्य में उसके साथ–साथ नर्तकी की नृत्य मुद्राओं में भी अंतर आता है।

ख्याल– गायकी के बारे में जानकारों का कहना है कि ख्याल तो ख्याल से ही गाया जाता है इसमें बुदेलखंड की लगभग सभी तरह की बजौटी बजती है इसके जानने वाले हों, वो ही गा सकते हैं तथा पारंगत् मृदंग वादक ही ख्याल बजा सकता है। इसी तरह नर्तकी भी जो नृत्य में पूर्ण रूप से पारंगत हो वही सही मायने में नृत्य कर सकती है। कुल मिलाकर राई नृत्य का सबसे महत्वपूर्ण पहलू ख्याल ही है। ख्याल गायन के पहले साक गाई जाती है। साक दोहे जैसे ही होती है। साक के बाद ख्याल गाया जाता है। साक विलंबत होती है तथा ख्याल की भ्रुरूआत भी विलंबित होती है। फिर मध्यलय तथा अंत में द्रुत लय होती है। भ्रास्त्रीय संगीत के जैसा ही ख्याल गायन राई का ख्याल होता है।

क्जलवा मारे जैहो रे...

इस तरह से राई गायन के रूप होते हैं। राई के साथ बीच–बीच में नर्तकी तथा सौबत को विश्राम देने हेतु ''स्वांग'' नामक लोकनाट्य सौबत के द्वारा ही किया जाता है।

साक – झिलमिल फरिया पाट की रे,

हमपै ने ओढ़ी जाय....

बालापन की दोस्ती रे,

हमपै ने छोड़ी जाय ....

आरी ये हमपै ने छोड़ी जाय....

——

बिंदिय माथे कौ सिंगार ....

कौना ने बिंदियसा लै दयी रे,

लै दयी प्यारे

आरे अब कौना चुका दये मोल,

अब कौना चुका दये मोल,

बिंदिया माथे को सिंगार,

देवरा ने बिंदिया लै दयी रे,

ले दयी प्यारे

आरे अब सैयां चुका दये मोल,

बिंदिया माथे को सिंगार ...

(बाबा खंगार, चक्क बिलैकी)

भांख बजें साधू जगें रे,

बिगुल बजे रजपूत ....

भगत सुने देवी जगें रे,

लयें खप्पर तिरसूल,

आरी ये लयें, खप्पर तिरसूल.....

——

तुम दुर्गा चली आव रे,

पतियां भेजी राम ने....

पत्तियां बांची मन मुस्कानी, मन मुस्कानी

अरे अब काहे खों राम बुलाये,

अब काहे खों राम बलाये,

अब काहे खों राम बलाये,

पतियां भेजीं राम नें ....

(स्व. श्री साधूराम घोशी कनेरा देव की लिखित)

ख्याल में दादरा, कहरवा, उसके प्रकार रूपक, दीपचंदी आदि तालों की झलक मिलती है। गायन के अनुसार कई तरह के मोड़ मुरकियां आती हैं संगीत तथा गीत और नृत्य का अनोखा रूप इसमें दिखता है। एक ख्याल 30 से 45 मिनिट में पूरा होता है। पूरी सौबत वादक तथा नर्तक के लिए सबसे ज्यादा श्रम करना पड़ता है, तभी ख्याल पूरा होता है।

फाग नारदी–

गा लऊं रे गौरा के गने ।।

प्रथम मना लऊं माता भारदा हां।।

मैं गायन में सर्वप्रथम गौरी पुत्र गणेश का स्मरण उनके नाम के गायन से करूंगा तत्प चात् स्वर की अधिश्ठात्री भारदा मां का स्मरण करूंगा।

बल खों रे सुमरों हनुमान,

सुर खों सुमरलऊ माता भारदा हां।

भाक्ति प्राप्ति हेतु पवनपुत्र हनुमान का स्मरण करूंगा तथा स्वर प्रदान करने के लिये भारदा मां का स्मरण करूंगा।

मारे रे लक्षमन ने वान,

कटी रे भुजा अंगना गिरी हां।

लक्ष्मण जी ने रावण पुत्र मेघनाद पर बाण चलाया तो उनके बाण के लगते ही मेघनाद की भुआ कटकर उसके ही महल के आंगन में गिरी थी।

नीमा रे तोरी पतरी है डारी,

बैठी रे चिरैया यार फूले झरे हां।

नीम वृक्ष की पंतली डाली है, वह फूलों से लदी है, उस समय अगर एक चिड़िया भी आकर बैठ जाए तो डाली से फूल झड़ने लग जायेंगे।

गोरी रे करले सिंगार,

मेड़े पै आ गये तोरे बालमा हां।

अरे सखी अब तू झटपट अपना श्रृंगार कर ले क्योंकि तेरे पति बिल्कुल समी आ गये हैं।

बरिया रे तोरी गहरी है छांय,

नचें रे पलंग अलबेली के हां।

वट वृक्ष की गहरी तथा भीतल छाया होती है और उस भीतल छाया के तले एक नव यौवना की सेज लगी है।

छैला रे तोरी हुड़कत भैंस,

मारे धरे रये यार पीसने हां।

अरे छैल–छबीले तेरी भैंस की हुड़कारी से मैं भयभीत हो गई। आटा ज्यों का त्यों रखा है।

गंगा रे तोरे निरमल नीर,

तोरे रे पिये सें जग तर गये हां।

गंगा मैया का जल बड़ा पवित्र है उन पतित पाविनी गंगा का जल जो भी पी लेता है वह इस भवसागर से पात उतर जाता है।

मथुरा रे मोय लगत उदास,

मधोवन लगत सुहावने हां।

कृश्ण को मथुरा में सूनापन लगता है, लेकिन मधुवन में बहुत अच्छा लगता है।

कां गये रे ऊदल मलखान,

कां गये बछेरा रस बैंदुला हां।

ऊदल मलखान जैसे वीर कहां चले गये तथा उनके घोड़े रसबेंदुला जैसा घोड़ा कहां चला गया । आशय यह है कि उनके जैसे वीर पुरूश अब नहीं है।

बरिया रे तोरी गहरी है छांय,

घोड़ा रे बंदे रये मलखान के हां।

बरिया के पेड़ की गहरी छांव के नीचे मलखान के घोड़े बंधे रहे थे।

कहरवा–

बारम्बार समझा लये री इन राजा खों,

कही हमारी ने माने,

एक बेर गये ते पंपापुरी खों,

बली बांद ने पाये री इन राजा खों,

कही हमारे नें मानों ....

एक बेर गयेते जनकपुरी खों,

सो धनुश टोर ने पाये री,

इन राजा खों, कहीं हमारी ने मानी।

मन्दोदरी कहती हैं कि मैंने अपने पति को अनेकों बार समझाया लेकिन उन्होंने मेरा कहना कभी भी नहीं माना और उसका यह परिणाम हुआ कि आज उनका सर्वनाश हो गया।

वे एक समय पम्पापुर को गये थे वहां पर वाली को बांधकर लाने हेतु गये थे लेकिन उल्टा ही हुआ। खुद वाली ने उन्हें छै मास तक अपनी कांख में दबाकर रखा, उसके प चात् वे अपना सिर लटकाये हुए आ गये। एक बार वे सीता स्वयंवर हेतु जनकपुर गये, वहां पर शिवजी का धनुश भी नहीं तोड़ पाये। वहां से निराश होकर लौटना पड़ा। फिर सीताजी का अपहरण किया, उस समय भी मैंने समझाया था लेकिन मेरी न मानी तो परिणाम यह हुआ कि सारा राक्षस कुल, घर, परिवार, स्वयं सब मारे गये।

कैसे पलंग चढ़ जाऊ राजा डर लागे तुमारे

काहे के पलका बने, पलका बने प्यारे,

काहो लागै बुनाव, राजा लागे .....

तों चंदन के पलका बने, पलका बने प्यारे,

रेशम लागे बुनाव, राजा डर लागे

मेरे मनाय नें माने सखी री मोरे सैंया रिसाने।

व्यारी खों जगा जगा हारी, प्रीतम कर रये बहाने मोरे मनाय ....

दार भात उर धर र्द फुलकियां, एकऊ कोर नें खानें, मोरे मनाय ....

कहत गाकरें काय नें बनाई, बैठे हैं भरता के लाने, मोरे मनाय

मना मना कैं हार गई मैं, भौंरा से भन्नाने। मोरे मनाय ..

अंगना में ठांड़ी चार गुंईयां, बता रई कीके कैसे सैंया।

पैली कहै मोरे भांकर भोला से,

लिपटी है नाग ततंईयां, बता रई ....

दूजी कहै मोरे राम लखन से...

खेलत है तीन धनईयां, बता रई .....

तीजी कहै मोरे भौत भौतऊ बुरय हैं,

मरत हैं चार पनईयां, बता रई ...

वन बिलवा सौ हेरै हमसे मुखई नें बोलें,

मोरे मायके से आये सकरांत के लडुआ,

बैठो कैंथ से फोरैं, हमसे मुखई ...

मोरे मायके से आये गूजा पपरिये

नई करवी सी टोरें, हमसे मुखई ....

मोरे मायके से आऔ सतुआ,

बैठो नांद में धीरे, हमसे मुखई .....

(राई दल प्रमुखः अनंत पाल सिंह, खजुराहो)

चौकड़िया फागें–

बुंदेलखंड में ईसुरी की फागें बहुत प्रसिद्ध हैं। छतरपुर, टीकमगढ़, झांसी, ललितपुर आदि जिलों में राई के साथ चौकड़िया फागें ही गाई जाती है। सर्वेक्षण में कुछ फागें प्राप्त हुई हैं।

हरगोविंद कुशवाहा, टीकमगढ़ के अनुसार – ईसुरी प्रकृति एवं सौन्दर्य प्रेमी थे तथा राई के अत्याधिक भौकीन थे, उनके फाग साहित्य में दो बेड़नियों का उल्लेख मिलाता है उन्हें रंगरेजन के नाम से लोग जानते थे। उनकी दो बहिनें थीं बड़ी बहिन का नाम गंगिया, हमीरपुर के ग्राम पडुवा में तथा छोटी बहिन सुन्दरिया जो रामनगर (टीकमगढ़) में रहती थीं। ईसुरी इन दोनों बहिनों पर असक्त थे, जहां भी राई नृत्य होती थी तो ईसुरी को निमंत्रण देकर बुलाया जात था। दोनों नर्तकी ईसुरी की फागें बड़े मधुर कंठ से गाती थीं।

यारी बेवकूपन सें करबौ,

होत सुगर कौ मरवौ।

बिना ज्ञान मूरख ना जों,

बनवो और विगरवौ।

अपुनयाई में बन हैं कैसें,

एकई गैर डिगरवौ।

जरिया कैसो जार ईसुरी,

मुसकिल परे निनरवौ।

ईसुरी कहते है कि मूर्खो से मैत्री का अर्थ है बुधजनों का मरण। बुद्धि के बगैर मूर्ख बनना और बिगाड़ना नहीं जानता। अपनेपन में यह भला कैसे संभव हो सकता है कि एक ही मार्ग पर चलें अर्थात् दोनों एक ही चाल को लेकर चलें। तब तो झरवेरी कैसा कांटों का जाल ऐसा फंसेगा कि सुलझना मु कल पड़ जाएगा।

देखत स्याम मांग पै मोये, गोला मुख पै गोये।

फन्दन फन्द फूल बेला की, बीचन बीच बिदोये,

बेंनी जलद चार कय केरत, तिवेंनी सें धोये।

अठत पराग अतर पटिया की, गये सरवोर निचोये

ईसुर उतै प्राण की परवी, मन लै चली चितौये।

नायिका के केश– विन्यास का वर्णन करते हुए ईसुरी कहते है कि देखने मे ऐसा प्रतीत होता है कि भयाम मांग पर मोहित है अथवा भयाम नायिका की माग पर मोहित हैं। गोलाकार मुख मण्डल पर जो गुंथित हैं। बेला–पुश्प के फन्दे बीच–बीच में सजे हैं। वेंणी जलधारा सी लहराती हुई केलि कर रही है। त्रिवेणी में धोए हुए हैं। अलकाविलि से पराग–इत्र की खु ाबू जिसमें केश निचौड़े गए हैं। कवि कहता है कि वहां प्रयाग स्नान का पर्व हा गया और मेरा मन एवं चित लिए जा रही है अर्थात् आकर्शित कर रही है।

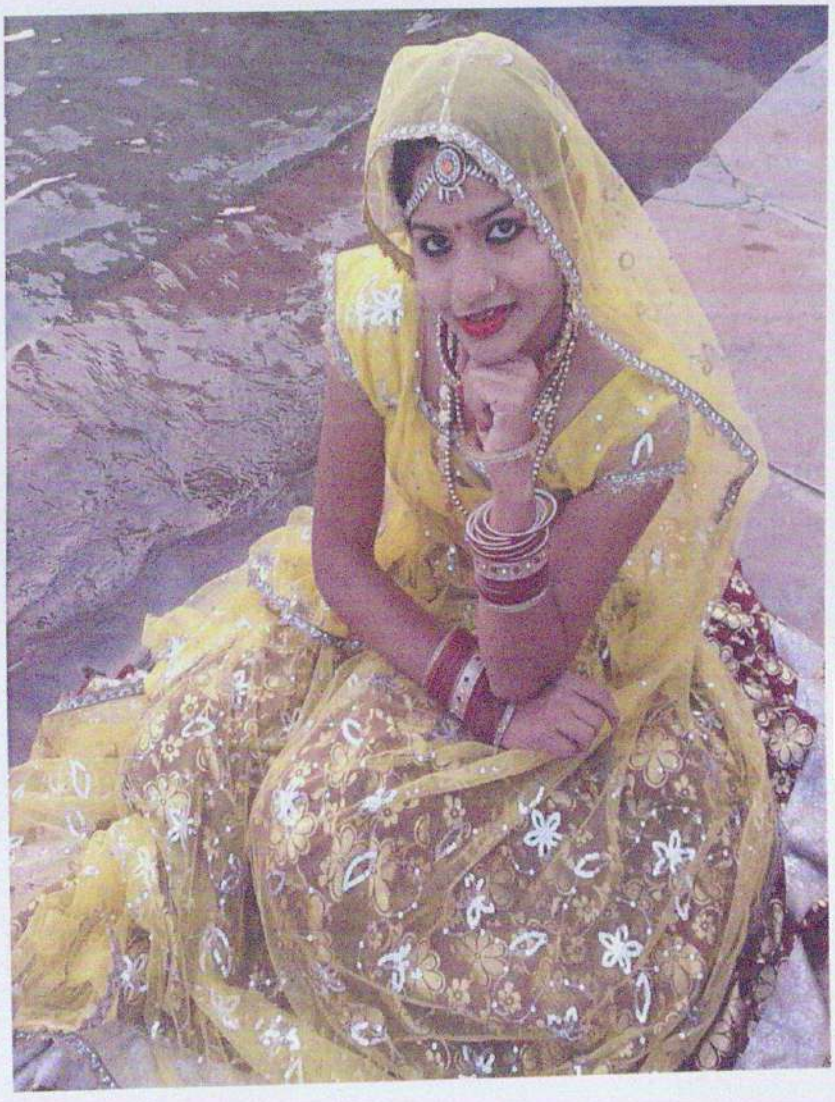

पग में लगत महाउर भारी,

अत कोमल है प्यारी।

आद रती को लांगा पैरें,

तिलकी औड़े सारी।

खस–?खस की इक अंगिया तन मैं,

आदी कौन किनारी।

रती रती के बीच ईसुरी,

एक नायिका ढारी।

सुकुमार नायिका का वर्णन करते हुए ईसरी कहते है कि – जिसके पैरों में महावर का बोझ भारी प्रतीत होता है, वह प्रिया अति सुकुमार एवं कोमल हैं। उसके लंहगे का वनज आधीराती है जिसे वह पहिने हुए हैं। तिलभर की हल्की सी साड़ी ओढ़े हुए है। खस–खस दाने के बराबर वनज कीचुकी तन में है, उसकी भी आधी कोर–किनारी है। रत्ती–रत्ती के बीच एक नायिका ढाली गई है।

तिलकी परन तिलन सें हल्की,

बांय गाल पै झलकी।

मानौ चुई चांद के ऊपर,

बुंदकी जमना जल की।

मानों फूल गुलाब के ऊपर,

उड़ बैठन भई अलकी।

के गोविन्द गुराई दै कै,

बैठ गये कल छलकी।

जी में लगी ईसुरी जी के,

दिल के दाब अतल की।

(प्रकाश यादव मेनपानी)

ईसुरी नायिका के कपोल पर अंकित तिल की अंकन तिल से भी हल्की है जो बांये कपोल पर झलक दे रही है। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो चन्द्रमा के ऊपर यामुना जल की एक बंद चू गई हो अथवा मानो गुलाब के फूल पर भंवरा उठ–बैठ रहा हो या फिर स्वयं गोविंद जी ही मधुरता के साथ स्वयं छल पूर्वक जा बैठे हों। जिस के जी पर बीच रही है उसके तो हृदय में अनल का भार सभा गया है।

बूंदा मनकौ हरन तुमारौं,
जो लयें लेत हमारौ।
बनौ रात घूंट के भीतर,
करै रात उजियारौ।
अच्छे रंग धरे कारीगर,
लाल, हरीरो, कारौ।
ईसुर ऐसें डसें लेत है,
जैसे नांग लफारौ।

नायिका के मस्तक का बूंदा देख ईसुरी कहते है कि – मन हर लेने वाला तुम्हारा यह बूंदा मेरे प्राण लिये ले रहा है। घूंघट के अन्दर रहता हुआ वह प्रका । बिखेर रहा है। कारीगर ने इसमें रंग ही इतने सुन्दर लाल, हरा, भयाम भर दिये हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि ठीक ऐसे डस रहा है जैसे लहराता लपलपाता काला नाग डसता है।

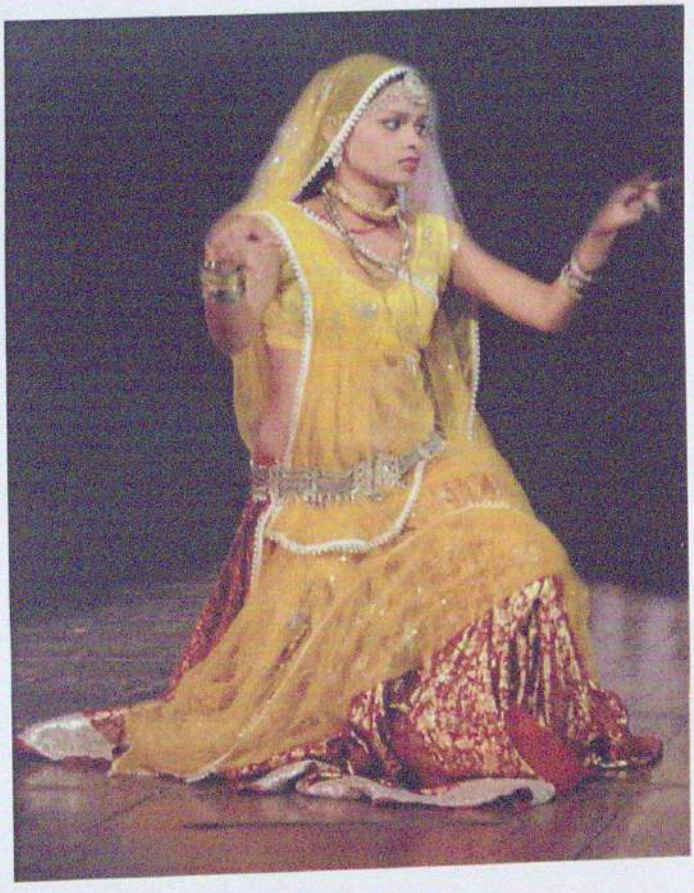

नैना परदेसी सें लरकें,
भऐ बरवाद बिगर कैं।
नैनां मोरे सूर सिपाही,
कवऊ न हारे लरकें।
जे नैना बारे सें पाले,
काजर रेखैं भरकें।
ईसुर भींज गई नई सारी,
खोबन अंसुआ ढरकें।

(हरगोविन्द्र कु ावाहा, टीकमगढ़)

ईसुरी कहते है कि नयन परदेशी से लड़ गए हैं अंतः बिगड़कर बरवाद हो गए हैं। नैंन मेरे भूर–सिपाही हैं, जो लड़ जाने पर कभी हार नहीं मानते। इन नयनों को काजल की रेखा भर–भर कर बाल्यकाल से पोशित किया गया है। कवि कहता है कि नई साड़ी भीग गई है क्योंकि चुल्लूभर आंसू बह गए है।

राई नृत्यगीत में धार्मिक पक्ष–

- दुर्गा रहियो सहाय, तोरे भरोसे कंगन बांधे।
- मोरी मैया अबार, झोली भरो झूमर बांध हैं।
- भांकर भोलानाथ, परबत पै बगिया लगाई रे।
- भज ले सीताराम, तुलसी की माला लै ले हाथ में।
- व्स में कल लये राम, जानें कौन से तपक र लये।
- राम रंग में रंगे, सीता रंगी रे हरदी में।
- रभ ठांड़े बैठे करो, भैया भरत मिलबे आये।
- रथ पै बैठे भगवान, रेशम के डोरा लटक रये।
- केवट जोरे हाथ तुम नें लैहें उतराई।
  (झुन्नी अहिरवार, खजराहो)
- धोखा हो गाओ रे, सकती लगी लछमन खों।
- व्याकुल हो रअे राम, सकती लगे से लछमन खों।
- भुनसारे ने होंय, जल्दी जगा ले लछमन खों।
- मेरे वीर हनुमान, लछमन के प्रान बचा ले।
- धरती हल–हल जाय, अंगद को पांव हले नें।
- ठांड़े लछमन राम, बगिया में केर तरे ठांड़े।
- निसचर छोड़े प्रान, देखे जब सेंदुरिया बाने।
- सिया हरे लयें जाय, ऐसों मैंने राजा नें देखौ।
- करिया पर गये स्याम, जब से नाग नांथे हैं।
- अरसी कैसे फूल, स्यामले बरन हैं भगवान् के।

- तनक दही के लाने, स्याम ने मटकी फोर डारी।
- भौंरा हो रेय स्याम, बेला कली राधा हो रई।

(रामलाल, सूरजपुरा गढ़ीमलारा)

विविध विशय संबंधी राई गीत :–

- काजर कोर पै लगे, नें मानों ऐना में देख लो।
- काजर वारे नैन, मुरर–मुरर जादू डार गये।
- कैसो करिये राम, जे मन मानत नैंया।
- का बन गये कसूर, वारे में विधवा करी रे।
- कैसी खा गये मरोर, द्वारे से निकर गये बोले नें।
- कोऊ कां जाने रे, कौना की कौन से लगी है।
- काजर देती दो बेर, जो मोरे राजा घरे होते।
- कोऊ आवे नें जाये, मोरे सड़कियों पै बंगला।
- का बन गओ कसूर, पकर बुलाई थाने में।
- कजरी वन को भोर, गोरी खों देख डराय रे।

(दीनानाथ दुबे, बड़ी देवरी)

- खोले नें किवार, भीतर कोहलिया– सी बोले।
- गोरी तोरे नैन, जेखों लगे बोई जाने।
- गोरी ककरा नें मार, हम तो गली के गैलहारे।
- गोरी घुंघटा नें घाल, परहे काम नैनों से।
- धुन हो गये भारीर, जब से बलम जोगी हो गये।

- धरक के गाड़ी–बैल, पैदल निंगा दई बैरी ने।
- घर में दो–दो नार, राजा बिड़नियां खों हरसे।
- स्बरे मर जायें, जार नें मरे बैला काउ के।
- घर के थानेदार, अब डर नैंया मोय काऊ के।
- चन्द्रापुर की पठार, लूट लई गुलबिया गोदनसींग ने।
- चकरी हो रये नैन, किन–किन पै डारे नजरिया।
- चलियो अपनी चाल, नैंना बंदोवस में राखियो।
- जिन मारों गुलेल, आफत की मारी चिरईया।
- जी के रे कठोर, तनकई दया रे आई नें।
- जीरा परबस फंसे, मोती चुंनत के जे हंसा।

(हीरालाल अहिरवार, पृथ्वीपुर टीकमगढ़)

राई गीत (श्रृंगार परक) :–

- वो तो उंसइया अजब बनी रहे, ओके ग्राहक कइयक फिरें।
- सखी सांची बताओ, घर हो संदेसे के आ हो।
- कोऊ जाने नें, तनकई इसारे में आ जा।
- फरिया उड़–उड़ जायें, चल रये झकोरा बैहर के।
- तनकई से मिले तनकई, बड़े होते राजा।
- जानी नईयां यार, ये कायां की कौन गत हुइये।

देवनारायण तिवारी रहली)

- टेड़ी हो गई मांग, गालों पै बह रये कजलवा।
- राखो सबके मान, एकई की होकें नें रईयो।

- कोऊ जाने नें यार, तनकई इशारे में दया जा।
- फिर के मिलियों यार, आये ने मजा पहली बेर में।
- बरसे घनघोर, चोली नें भींजी तन भींज गये।
- दो के बीच में परे, कौन तरपे ले लयें करोंटा।
- कोऊ का जाने यार, जेखों लगी रे बोई जाने।
- कम्मर टूटी जाय, छोड़ दे करहैया जीरा जान दे।
- करहां टूटे जाय, छोड़ दे करहैया जीरा जान दे।
- कच्चे अनार लाल दानें, राजा रस लै के नें जानें।
- कनहर कैसी डार, जादा नें झुकइयो मोरे राजा।
- कैसे पलंग चढ़ जाऊं रे, बिछिया दे रये टकोरा।
- कहियो समझाय, इते जवानी नें जो ा जनाय।
- जेठी जल–जल जाय, लुहरी के हो रये बिछौना।
- जियरा धीर नें धरैं, चोली के बंद टूटे जायं रे।
- जे की पतरी है नार, ओई के मजा है सोबे के।
- तुमखों जवानी की मरोर, हमखों मरोर जोवन की।
- तुम पै लाखों मरें, तुम नें मरी बेला काऊ पै।
- तलफी सारी रैन, दो रस बुंदियों के लानें।

(मुल्ले अहिरवार, मेंदवारा)

राई भाब्द कहॉ से आया

राई भाब्द कहॉ से आया यह खोज पाना कठिन है मैं समझता हूॅ कि वह संस्कृत के रागी भाब्द व्युपन्न है रागी का अर्थ है रागयुक्त अथवा रंजन करने वाला, और राई गीत युक्त नृत्य भी है, जिससे मनोरंजन भी होता है, अतएव राई से दोनों अर्थ निकलते है एक राई नृत्य में गाया जाने वाला गीत और दूसरा राई गीत में अनुसरित होने वाला नृत्य राई बुंदेलखंड का प्रसिद्ध नृत्य है, राई गीत के साथ मृंदग, या ढोलकी, नगड़ियॉ, मजीरा, अलगोजा, के सामवेद तालों पर नर्तकी अपना नृत्य करती है, नृत्य को गति देने के लिये एक ही पक्ति दुगुन और चुगुन में गायी जाती है तो फिर इसका तात्पर्य यह होता है कि भाायद यह क्या रास का ही रूप हे या फिर संस्कृति के रागी से यह खोज पाना कठिन है कुछ वर्णन पूर्व में दिये जा चुके है।

सपने में दिखाये, सपने में दिखाये

पतरी कमर बूंदा वारी,

लोक नृत्य राई

राई मूलतः लोक नृत्य है जो बसंतोत्सव से जुड़ा रहा है और आज भी बसंत पंचमी से लेकर वै ाख पूर्णिमा तक राई की धूम रहती है, रवि की फसल और फाग का प्रमुख नृत्य होने के कारण उसकी प्रचीनता में कोई संदेह नही है कि समय समय पर मनाये जाने वाले बंसत उत्सव का वर्णन जिन मंडन के कुमारपाल प्रबंध में मिलता है, रूपकार बसंत राज ने भी चंदेल नरेश परमर्दिदेव और त्रैलोक्यवर्मन् के राज्यकाल में वसन्तोत्सव का चित्रण किया है। उनके प्रहसन हास्यचूड़ामणि का अभिनय तो बंसत ऋितु में हुआ था र्स्पश्ट है कि यह लोक नृत्य बाहरवीं सदी में प्रचलित था, यह लोक नृत्य जहां जनता में लोकप्रिय हुआ वही राजा के सामान्तों जागीरदारों ठाकुरो आदि मध्ययुग के उच्च वर्ग में भी अधिक प्रचलन में रहा है, जब बुंदेलखंड की छोटी–छोटी रियासतों के राजा या जागीरदार कला की बारीकियों से आपरिचित हो गये, तब लोक नृत्य राई उच्च वर्ग विनोद और विलासिता का साधन बनने से ही वह व्यवसायिक हुआ है, और इसलिये उसका मंचन चाहे जनता के बीच होना हो, चाहे ज़मीरदार की हवेली में।

मध्ययुगम में राई का मंच या तो बिल्कुल सादा खुला होता था या फुल हवेले के भीतर सजा सवारा सादे मंच में किसी भी बड़े मैदान के बीच स्वच्छ टुकड़े को रस्सी से घेर दिया जाता है और उस घेरे के भीतर एक तरफ गायक और वादक दल रहते है जिनके पीछे नगड़िया सेकने के लिये अलाव या कोड़े में आग सुलगती रहती है बाकी तीन तरफ दर्शकों की भीड़ होती है, रोशनी के लिये मशाले जलाई जाती थी, एक या दो मशाले नर्तकी के हाव भाव स्पश्ट निरखे जाने के लिये मशालची के हाथ में रहती है जो नर्तकीयों के साथ साथ गतिशील रहता है।

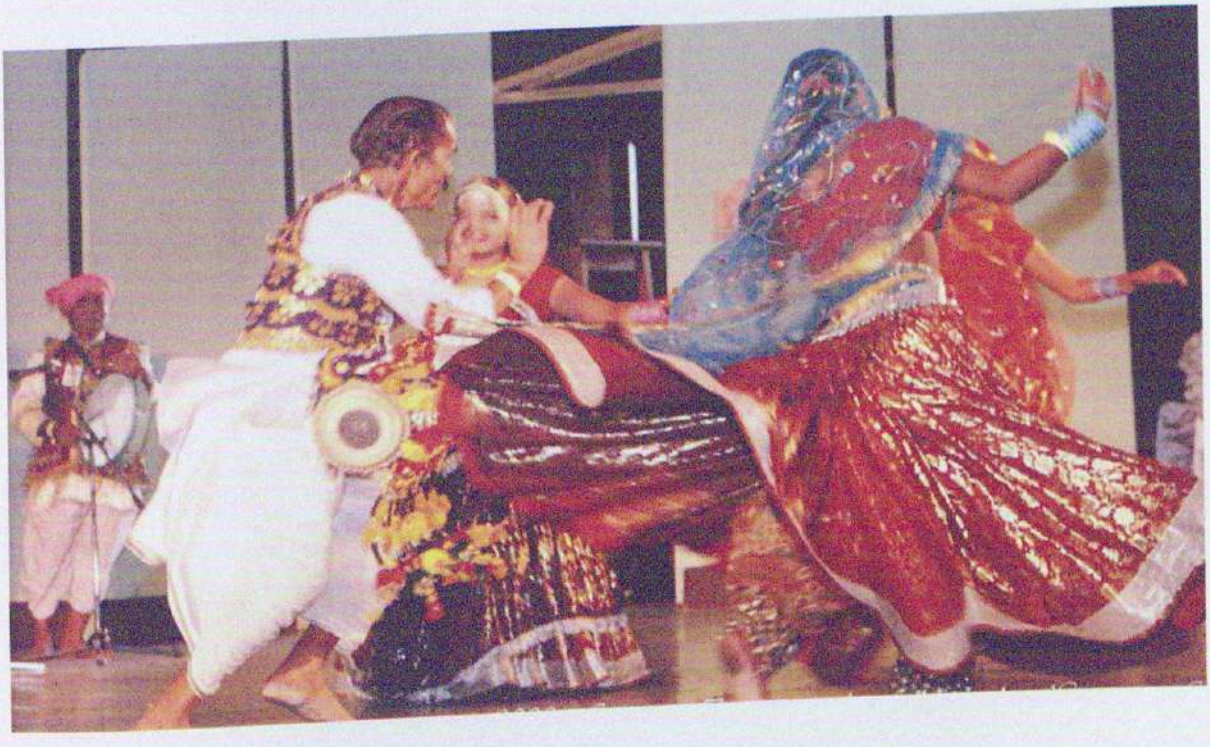

राई नृत्य की नर्तकी सराई (चूड़ीदार पजामा) पर लंहगा या घांघरा अंगिया या चोली और ओढनिया साड़ी पहने और आकर्शण श्रंगार से सजी नर्तकी गीत के बोल

पर थिरकती रहती है, जबकि मृदंगिया धोती, कुर्ता एवं जॉकिट और सिर पर स्वॉफा पहनकर नर्तकी के साथ संगत करता है, लेकिन द क की जिज्ञासा कृत करने के लिये उसका घूंघट उतर जाता है, और तब मुखाभिव्यक्यिॉ थोड़े में भी बहुत कह जाती है, हाथ में लहराता रूमाल भावाभिव्यक्ति में सहायक होता है नर्तकी नृत्य में जहॉ गीत के अनुरूप अंगिक अभिनय करती है, और नृत्य के बाद सहज संवाद की स्थिति लाती है, वही स्वांग जैसे लोक नाट्यों में भी प्रमुख पात्र के रूप में हिस्सा लेती है, मृंदगिया नर्तकी के आसपास रहकर बैठकी ढड़कचका आदि में अभिनय करता है। और बाद में छोटे से दृश्यखण्ड में सम्मिलित होता है, राई में वादन और नतन की होड़ और एक दूसरे की मात देने के प्रयत्न में जो विविध गतियॉ प्रदर्शित की जाती है वे अभिनय का आनंद देती है। सारी रात चलने वाले इस नृत्य में विभिन्न प्रकार की गायकीयॉ गायक दल व नर्तकियों के द्वारा चलती रहती है, एक अग्रजी भाासन काल का श्रंगार परख गीत का उदाहरणः—

ज्वानी सरर सरर सर्राबै, जैसें अंगरेजन को राज।
अंगरेजन को राज, जैसें उड़ै हवाई जहाज। ज्वानी।
काजर दै मैं का करों, मेरे बैसई नैन कटार।
जासें निगाह मिल जाय, हो जाय मोरो ताबेदा।। ज्वानी0।।
उमर खिंचे पै कोऊ न पूछै, ज्वानी को सिंगार।
ज्वानी सरर सरर सर्राबै, जैसें अंगरेजन को तार।। ज्वानी0।।

बुंदेली लोक गाथा

एक तथ्य की ओर आपका ध्यान आकर्शित करना चाहता हूँ, कि बुंदेलखंड की लोक संस्कृति वैदिक संस्कृति से भी अधिक पुरानी है, वैदिक काल में यहां आर्य संस्कृति का प्रवेश नही हुआ था, क्योकि उत्तर वैदिक साहित्य में भी नर्मदा नदी का नाम मिलता है, बुंदेलखंड के प्राचीन निवासी पुलिंद, किरात, भाबर, (सॉर) आदि जातिया थी उनमें लोक गीतों और लोक कथाओं का प्रचलन था यह बात अलग है कि उनकी भाशा बुंदेली नही थी उनकी लोक कथाऐं संस्कृति से जुड़ी थी उनमें देवी या भाक्ति के प्रति अटूट विश्वास था, वन जातियों को संस्कृत करने का अभियान चलाया तब दो संस्कृतियों के धुंध से एक नई संस्कृति का जन्म हुआ और लोक कथाओं में भी नई नैतिकता तथा अभिप्रयों का प्रवेश हुआ, महाभारत काल में यादवों की संस्कृति सत्ता में रही एवं महाजनपद काल में चैदी और दशार्ण जनपदों की स्वच्छद प्रकृति के कारण लोक संस्कृति का विशिश्ट रूप विकसित हुआ आशा यह है कि अब तक की लोक कथाऐं अधिकतर अनार्य लोक मूल्यों से प्रेरित थी, किन्तु भुंगों, भारशिवों, वाकाटकों और गुप्तवंशी अधिनायकों के समय आधुनिक संस्कृति की ईमारत खड़ी हुई, इसके लोकादर्शों की छाप ने लोक कथाओं का ढाचा ही बदल दिया उसके बाद 9वीं सदी तक जनजातियॉ स्वतंत्र हो गयी, और फिर एक बार लोक चेतना की सफलता के फलस्वरूप लोक कथाओं में प्रकृति हुई इसी परिवेश की कोख में बुंदेली भाशा का उदय हुआ और बुंदेली लोक कथाऐं प्रस्फुटित हुई है।

संदर्भ सूची

कलाकर्म में परामर्श एवं सहयोग प्रदान करने वाले विद्वत्जन

- आदिवासी लोक कला अकादमी मध्यप्रदेश संस्कृति परिशद्।
- आकाशवाणी सागर
- श्री राम सहाय पाण्डेय वरिष्ठ राई नर्तक, कनेरादेव सागर।
- डॉ. कपिल तिवारी, पूर्व निर्देशक आदिवासी लोक कला अकादमी मध्यप्रदेश संस्कृति परिशद्।
- श्री ज्ञान बुंदेला सागर।
- डॉ. ललित मोहन विभागध्यक्ष, संचार एवं पत्रकारिता
  प्रभारी – डॉ. हरि सिंह गौर विश्वविद्यालय।
- श्री हरगोविंद विश्व वरिष्ठ लोकगीत गायक।
- श्री चूरामन यादव बरेदी लोक कलाकार।
- श्री चुन्नीलाल रैकवार, ढिमरयाई गायक
- श्रीराम विश्वकर्मा एवं करन अहिरवार ग्राम घाना जैसीनगर।
- रामलाल चढ़ार एवं साथी कलाकार जबलपुर।
- श्री शिवरतन यादव वरिश्ठ लोक गायक सागर।

- श्रीमति बेबी बाई ग्राम पथरिया। (नर्तकी)
- स्व. प्रो. डॉ. बलभद्र तिवारी बुंदेली हिन्दी विशेशज्ञ, सागर।
- श्रीमति रेखा बाई, बिट्टो ग्राम हवला। (नर्तकी)
- श्रीमति शशी बाई ग्राम फतेहपुर। (नर्तकी)
- कु.पायल (नर्तकी)
- कु. पिंकी (नर्तकी)
- कु. कविता (नर्तकी)
- श्री वी.आर. नायडू कटनी, कु. ज्ञाने वरी नायडू कटनी।

Submitted by :
Ramshay Pandey,
Kanera Dev Sagar
(Madhya Pradesh)